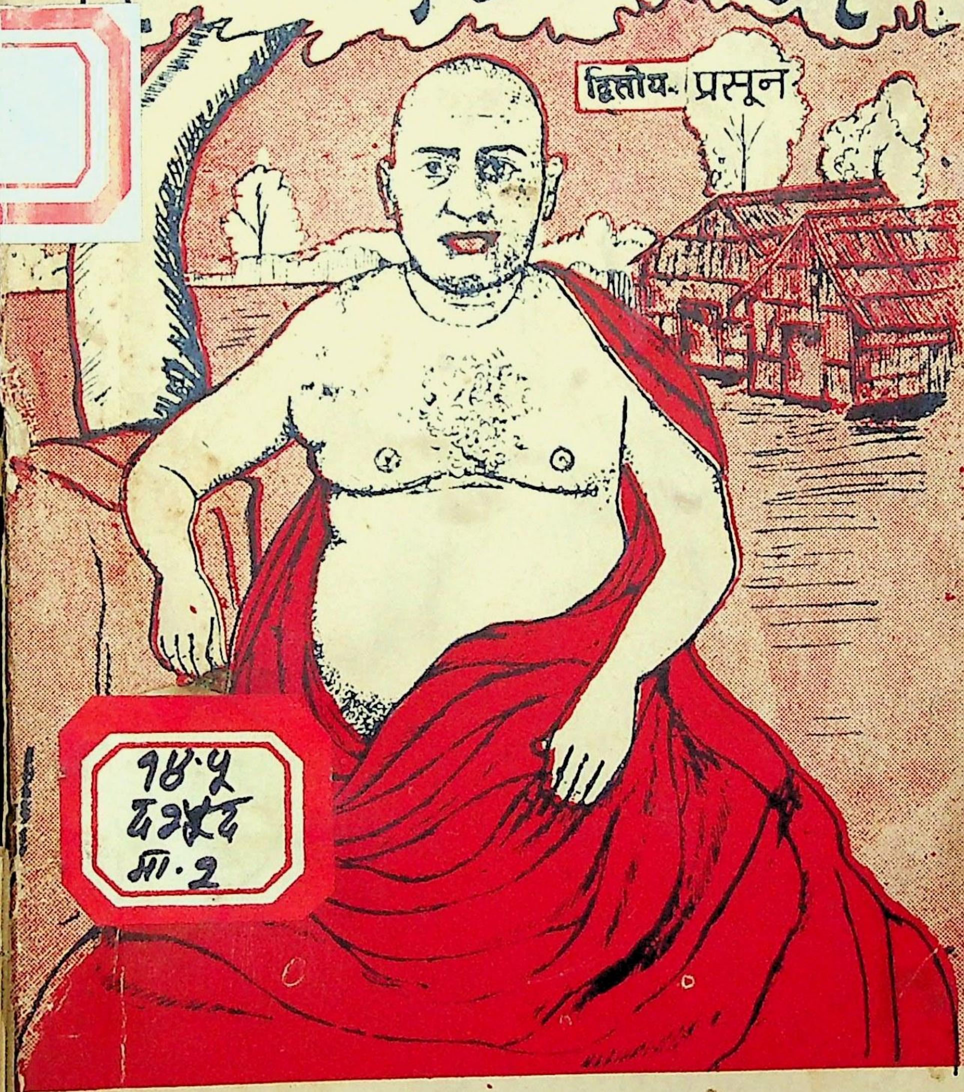
दर्शनानन्द-ग्रन्थ-संग्रह

द्वितीय-प्रसून



मधुर प्रकाशन, दिल्ली-६

वैशाखी १९७२ [मूल्य २) रुपये

दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह

(द्वितीय प्रसून)

स्वर्गीय स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

प्रकाशक

मधुर-प्रकाशन,

आर्य समाज मन्दिर, बाजार सीताराम, दिल्ली-६

वैशाखी १९७२ [मूल्य २) रुपये

प्र काशक :—
राजपाल सिंह शास्त्री
अध्यक्ष, मधुर-प्रकाशन
आर्यसमाज मन्दिर, बाजार सीताराम, दिल्ली-६
दूरभाष : २६८२३१

मूल्य : २) रुपये
प्रथम संस्करण : १९७२

मुद्रक :—
विराट् प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा सैनी प्रिंटर्स
दिल्ली-६ में मुद्रित

प्रकाशक के निवेदन

१—तार्किक शिरोमणि श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज अपने समय में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ महारथी, उपनिषदों और आर्य दर्शनों के उत्तम भाष्यकार, प्रभावशाली वक्ता, साहित्यकार एवं गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के समुद्धारक थे। उनकी लघु पुस्तकों [ट्रैक्टों] की संख्या तो सैकड़ों में आंकी जाती है। कहते हैं कि कई वर्ष तक उनका प्रतिदिन एक नई पुस्तक लिखने और उसे यथासम्भव शीघ्रता से छपवाकर जनता में वितरित कराने का नियम चलता रहा था।

२—श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज के सभी छोटे-बड़े ग्रन्थ सरल भी हैं, सुबोध भी और सन्देहरहित एवं वेद शास्त्रों के उच्चतम रहस्यों के मर्म-प्रदर्शक भी आर्यसमाज के आरम्भिक युग में श्री स्वामी जी महाराज के साहित्य, विशेष रूप से उन के लघु पुस्तकों का आधार लेकर ही सैकड़ों कार्यकर्त्ता और प्रचारक कार्यक्षेत्र में अग्रेसर हुए थे। व्याख्यान-कला का अभ्यास करने में भी श्री स्वामी जी के ग्रन्थों से सर्वाधिक सहायता प्राप्त होती है।

३ आर्य जनता के बारम्बार के अनुरोध को स्वीकार करके ही "मधुर-प्रकाशन" ने श्रद्धेय स्वामी जी महाराज के ग्रन्थों का प्रकाशन आरम्भ किया है। प्रथम प्रसून के रूप में स्वामी जी का जीवन चरित्र और "तत्त्ववेत्ता ऋषि की कथा" आख्यान प्रकाशित हो चुका है। अब यह दूसरा प्रसून प्रकाशन पथ पर अग्रेसर हो रहा है। तीसरा प्रसून भी लगभग तैयार है। उनके सभी ग्रन्थों का सुन्दर रूप में प्रकाशित करने के लिये हम पूरा-पूरा प्रयास कर रहे हैं। यह बड़ा कार्य भारी व्यय और कई भागों में पूरा होने वाला है।

४—धर्म प्रसार, जन जागरण और सद्भावना संवर्धक इस कार्य में हम सभी सहृदय, विद्या प्रेमी और मानवता-हितैषी सज्जनों के सहयोग की याचना करते हैं। विज्ञवरों के प्रस्तावों और आदेशों का यथोचित परिपालन किया जायेगा।

—राजपालसिंह शास्त्री
अध्यक्ष, मधुर प्रकाशन

विषय सूची

प्रथम-सोपान

द्वितीय-सोपान

ओ३म्

दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह

प्रसिद्ध वाग्मी, महान् तार्किक
श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती रचित

ईश्वर-विचार

(१)

विचारशील महात्माओ ! प्रमाणादि से सत्य की परीक्षा करने वालो! आप कृपा करके मेरे इस लेख पर दृष्टि देकर विचार करें, यद्यपि मेरा विचार आप लोगों के सामने बुद्धिमत्ता का न होगा, तथापि आप अपनी सद्वृत्ति के अनुसार मेरे दोषों को मिटायेंगे। महाशयो! जब हम संसार में किसी पदार्थ को देखते हैं तो हमें उसमें दो प्रकार के पदार्थ प्रतीत होते हैं, एक परिणामी दूसरे अपरिणामी, जितने साकार पदार्थ हैं वे सब परिणामी, और जितने निराकार पदार्थ हैं वे अपरिणामी हैं, परन्तु जब हम इन साकार पदार्थों में प्रथम मनुष्य के शरीर को देखते हैं जो माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होता है, बढ़ता है, घटता है, अन्त को नष्ट हो जाता है, इससे हमें क्या अनुमान होता है कि जो पैदा हुआ है वह नष्ट होगा, जिसमें परिणाम है वह पैदा हुआ है। जब परिणामी पदार्थों को उत्पत्तिवाला सिद्ध कर लेते हैं तो हम व्यष्टि पदार्थ अर्थात् एक व्यक्ति को छोड़कर समष्टि जगत् को विचारते हैं तो तब ही परिणाम प्रतीत होता है। क्योंकि जिस अवयवी के अवयव परिणाम को प्राप्त होते हैं वह अवयवी भी परिणामी होता है क्योंकि सम्पूर्ण अवयवों का नाम अवयवी है जब हम इस प्रकार सूक्ष्म विचार करते हैं तो हमें जगत् परि-

णामी प्रतीत होने लगता है। हम जगत् के परिणामी होने से उसकी उत्पत्ति का अनुमान कर लेते हैं। यद्यपि मध्य अवस्था में उसकी उत्पत्ति का बोध अनुमान के बिना नहीं होता तथापि शब्द प्रमाण से जगत् उत्पन्न हुआ और जगत्, संसार, सृष्टि, इसके पर्याय वाचक जितने शब्द दिये जाते हैं, सबके अर्थ उत्पत्ति वाले के हैं।

जब हमने जगत् को उत्पत्ति वाला अनुभव किया तो हमारा विचार यह होता है कि यह उत्पत्ति स्वाभाविक है या नैमित्तिक ? दूसरे हम जिस पदार्थ की उत्पत्ति जिस पदार्थ से देखते हैं उसका लय भी उसी पदार्थ में होता है इससे कार्य्यरूप सब पदार्थों में अनित्यता और कारण रूप पदार्थों में नित्यता का बोध होता है। जब हम पंचभूतों में अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश में सब पदार्थों का लय देखते हैं तो उन्हीं पञ्च पदार्थों से इस जगत् की उत्पत्ति का विचार करते हैं। यद्यपि कार्य्य-व्यवस्था इन पदार्थों की अनित्य है परन्तु कारण-व्यवस्था में यह नित्य होते हैं। जब हम जगत् के उपादान कारण पंचभूतों का जान चुके तो हमको यह विचार होता है कि जगत् भूतों के स्वभाव से उत्पन्न हुआ वा इसमें कोई निमित्त भी है ! अथवा जगत् पंचभूतों ही से उत्पन्न हुआ वा इनके विना कोई और भी पदार्थ है ? जब हम पृथ्वी को विचारते हैं तो जड़ प्रतीत होती है, जल भी ज्ञानशून्य है, अग्नि भी ज्ञान नहीं रखती, वायु में भी ज्ञान का अभाव ही प्रतीत होता है, आकाश ज्ञान से हीन है, इस प्रकार के विचार से हम सम्पूर्ण भूतों को ज्ञान से रहित पाते हैं, परन्तु हम संसार में जो सोने के बने भूषणों में सोने के गुण और चांदी में चांदी के गुण पाते हैं इससे हमको बोध होता है कि कारण के गुण के अनुकूल कार्य्य में गुण रहते हैं। जब भूतों में ज्ञान गुण नहीं है तो भूतों के

कार्य्य रूप जगत् में भी ज्ञान नहीं हो सकता। और जगत् में मनुष्यों को ज्ञान से युक्त देखते हैं तो शीघ्र विचार उत्पन्न होता है कि यह ज्ञान गुण किसका है ? बहुत से लोग यह कहते हैं कि पृथक् भूतों में तो चैतन्यता नहीं किन्तु संयोग से उत्पन्न होती है। परन्तु जो गुण एक में न रहे वह संयोग से उत्पन्न नहीं होता जैसे मैदे में मधुरता नहीं, जल में मधुरता नहीं, तो मैदे और जल के संयोग से मधुरता नहीं उत्पन्न होती। चीनी में मधुरता है, जल में मिलाने से उत्पन्न होजाती है। दूसरे रेल के इंजन में पृथ्वी है, जल है, अग्नि है, वायु है, आकाश है परन्तु ज्ञानशक्ति नहीं है। मृतक शरीर में पांचों भूत हैं परन्तु ज्ञानशक्ति नहीं। इससे निश्चय होता है कि ज्ञान शक्ति का आधार कोई दूसरी वस्तु है।

जब हम इस प्रकार सृष्टि में जड़-चैतन्य को दो स्वरूप करके विचार लेते हैं तो हम को सृष्टि में इनका संयोग, और सृष्टि में स्वभाव से संयोग है या निमित्त से ? यह विचार उत्पन्न होता है। जब हम बाजार जाते हैं हमको कभी कहीं ईंटें पड़ी पाती हैं तो हम जानते हैं कि यह स्वाभाविक गिरी होंगी, परन्तु यदि एक स्थान में दस ईंटें गिनकर ऊपर नीचे रक्खी हों तो विचार होगा कि किसी ने गिन के रक्खी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जहां पर नियम है वह नैमित्तिक और जो बे नियम है वह स्वाभाविक है। जब सृष्टि में नियम को देखते हैं तो इस के हरएक पदार्थ में नियम प्रतीत होता है। मनुष्य स्त्री के संयोग से लड़का उत्पन्न होता है। घोड़े-घोड़ी के संयोग से घोड़ा, घोड़ी और गधे के संयोग से खच्चर। इसी प्रकार सब पदार्थ नियमानुसार प्रतीत होते हैं। गरमी में दश घंटे की रात्रि होती है, सर्दी में १४ घंटे की, जिधर देखो नियम बँध रहा है। फिर इसे क़िस युक्ति से स्वाभाविक मानें ? दूसरे जो स्वाभाविक गुण हैं वे सर्वदा एकरस रहते हैं, वे विना किसी निमित्त के बदलते

नहीं। जैसे जल का स्वभाव शीतस्पर्श वाला है, विना अग्नि-संयोग के उष्णता न होगी, सो वह उष्णता अग्नि की है, न कि जल की। यदि भूतों का स्वभाव उत्पत्ति मान लें तो विनाश किसका गुण होगा, क्योंकि एक पदार्थ में दो विपरीत गुण तो रह नहीं सकते। यदि भूतों में किसी का गुण उत्पत्ति मानें, किसी का विनाश, तो भी व्यवस्था ठीक न होगी। क्योंकि संयोग के समय वियोग बाधक होगा, वियोग के समय संयोग। जब इस प्रकार से विचार करते हैं तो भूतों के स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसका निमित्त कारण ज्ञानशक्ति-सम्पन्न कोई सर्वशक्तिमान् अवश्य मानना पड़ेगा। जब इस प्रकार ईश्वर को मानेंगे तो यह शंका उत्पन्न होगी कि——

"लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्नतु प्रतिज्ञामात्रेण" अर्थात् लक्षण और प्रमाणों से वस्तु की सिद्धि होती है, ईश्वर में प्रमाण का अभाव है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नहीं, प्रत्यक्ष के अभाव में व्याप्ति न होगी, व्याप्ति के अभाव में अनुमान भी नहीं हो सकता। निराकार और अनुपम होने से उपमान भी न होगा। बाकी रहा शब्द ! प्रथम तो आप्तोपदेश से शब्द को प्रमाण माना जाता है, आप्त उसको कहते हैं जो धर्म से धर्मी का लक्ष करके कहे, जिसका प्रत्यक्ष नहीं उसमें शब्द भी न होगा!

समाधान—यह है कि यदि प्रमाण के अभाव में ईश्वर की सिद्धि नहीं तो प्रमाण की परीक्षा के समय प्रमाण में भी प्रमाण होना चाहिये ? यदि कहो प्रमाण में भी प्रमाण है, तो उसका प्रमाण किस प्रमाण से है ? इस प्रमाण–अनवस्था–दोष में पड़ जाओगे। यदि कहो प्रमाण में प्रमाण नहीं तो उसकी असिद्धि है, तो आपका प्रमाण जो स्वयम् साध्य कोटि में है वह दूसरे की सिद्धि में कैसे हेतु होगा ? यदि "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" इस प्रकार प्रमाण को विना प्रमाण के मान लोगे तो तुम्हारे सिद्धान्त

की हानि होगी। यदि कोई शङ्का करे कि ईश्वर ने जगत् उत्पन्न किया है तो ईश्वर को किसने उत्पन्न किया है? तो इसका उत्तर यह है कि परिणामी पदार्थ कार्य्य होते हैं। उनको कारण की अपेक्षा होती है, जब ईश्वर परिणामी हो तो उसका भी कारण हो परन्तु ईश्वर नित्य है, अपरिणामी है। उसका कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि कोई कहे 'ईश्वर कहां है' ? तो उत्तर यह ठीक है कि 'कहां' पद एकदेशो। के लिए होता है, विभु के लिए नहीं। बहुत लोग उसको देखना चाहते हैं परन्तु ज्ञानचक्षु के अभाव से देख नहीं सकते। जैसे तिलों में तेल है परन्तु पीडने के विना दृष्टि नहीं पड़ता, दधि में घी है परन्तु मथने के विना नहीं मालूम होता। इसी प्रकार जगत् में आत्मा व्यापक है परन्तु योगाभ्यास के विना नहीं जान पड़ता। जैसे दीपशलाका में आग है परन्तु घिसने के बिना नहीं मालूम देती है। जैसे गुड़ में मिठास है परन्तु खाने के विना प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जगत् में परमात्मा है परन्तु मिथ्या ज्ञान से छिप रहा है, प्रतीत नहीं होता।

प्यारे पाठको! अब विचार करके देखो यदि एक अन्धा रूप को देखना चाहे तो कौन दिखला सकता है? जब तक चक्षु का सुधार न हो, इसी प्रकार जब तक ज्ञानचक्षु न हो, क्यों कर परमात्मा को देख सकते हैं? यदि कोई बहरा राग सुनना चाहे, कौन सुना सकता है? जब तक उसके कान ठीक न किये जाएँ। यदि कोई गूँगा मिठाई का स्वाद लेना चाहे कौन दिला सकता है? जब तक उसकी जीभ दुरुस्त न हो। यदि जिसकी नासिका में दोष से गन्ध ग्रहण करने की शक्ति न हो कौन विना नासिका बने फूल सुंघा सकता है? इसी कारण हे पाठको ! जबतक हमारे पास वह वस्तु नहीं जिससे परमात्मा जाना जाता है तो हमको कोई भी उसका दर्शन नहीं करा सकता। जब हमारे ग्रहण

करने की शक्ति ठीक होगी तो हम देख सकेंगे। हे पाठको ! जिस धारणावती उग्र ठीक बुद्धि से परमात्मा देखा जाता है, जब तक वह बुद्धि उत्पन्न न हो तब तक परमात्मा को कोई भी जान नहीं सकता। वह बुद्धि वेदादि शास्त्रों के पढ़ने से शुद्ध होती है। जैसे अञ्जन से चक्षु ठीक होकर देखने का काम देता है। अब बहुत से महात्मा यह कहेंगे कि तुमने मन से मान लिया कि ईश्वर है क्योंकि दो वस्तुओं के संयोग से जीव उत्पन्न हो जाता है। जैसे गोबर और दही के मिलाने से बिच्छू पैदा होते हैं, फिर ईश्वर को मानना व्यर्थ है, परन्तु जो लोग इसको विचारते हैं उनको ज्ञात होगा कि प्रथम तो दही भी ज्ञानवान् के निमित्त से उत्पन्न हुआ है पृथिवी से दही नहीं उत्पन्न होता, दूसरे गौ के गोबर में छोटे जीव रहते हैं वह दही से पल जाते हैं, जैसे भूमि में घास की जड़ रहती है वह वृष्टि से बढ़ जाती है परन्तु ऊसर में घास नहीं होती। इससे सिद्ध है जो वस्तु होती है वही उत्पन्न होती है, पहिले कारण रूप में रहती है फिर कार्य रूप में बदल आती है। जैसे घट के आकार का ज्ञान कुम्हार को है, घट बनने की शक्ति मृत्तिका में है तब घट उत्पन्न होता है। यदि कुलाल न हो या मृत्तिका न हो तो घट नहीं बनता है। पाठको ! विना उपादान और निमित्त कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, इससे आप जगत् का कर्त्ता ईश्वर को माने विना विचार को बढ़ा नहीं सकते। परमात्मा आपको धारणावती बुद्धि दे जिससे आप तत्त्व ज्ञान को प्राप्त होकर संसार के दुःख जाल से छूट जायें।

ईश्वर विचार

(२)

प्रिय पाठकवृन्द ! "ईश्वर-विचार" के प्रथम भाग में

ईश्वर का अस्तित्व तर्क से सिद्ध किया गया है। उस पुस्तक में वेद और शास्त्रों के प्रमाण इस हेतु से नहीं दिए कि उसका सम्बन्ध नास्तिकों से है, और नास्तिक किसी पुस्तक को प्रामाणिक नहीं मानते।

अब हम 'ईश्वर-विचार' का दूसरा भाग आपके समक्ष भेंट करते हैं जिसमें इस विषय पर कि "ईश्वर साकार है वा निराकार" विचार किया गया है।

ईश्वर का लक्षण सच्चिदानन्द है, और इस शब्द में तीन पद अर्थात् (१) सत् (२) चित् (३) और आनन्द हैं। तीन काल में रहने वाले को हम सत् कहते हैं और ज्ञान वाले को चित् और तीनों काल में दुःख के अत्यन्ताभाव को आनन्द कहते हैं। अब वह साकार होगा वा निराकार तात्पर्य यह है कि सत् मूर्तिमान् है या अमूर्तिमान् है? यदि कहा जाय कि मूर्तिमान् है तो कहा जाएगा कि वह मूर्ति संयोग निरवयव से बनी है या तत्वस्वरूप है अर्थात् सावयव है या निरवयव? यदि कहा जाए सावयव अर्थात् अनेक वस्तुओं से मिलकर बनी है तो यह प्रश्न होगा कि भौतिक है या अभौतिक? यदि इसका यह उत्तर हो कि भौतिक है तो अवश्यमेव वह सत् भूतों का कार्य होगा। जब कार्य हुआ तो किसी काल में कारण से उत्पन्न हुआ होगा, और अपनी उत्पत्ति से पूर्व काल में नहीं होगा इससे प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो उत्पन्न हुआ वह नष्ट भी अवश्य होगा और नाशानन्तर नहीं रहेगा। तात्पर्य यह है कि भौतिक मूर्ति होने से आदि और अन्त में न रहा, केवल मध्य अवस्था में हुआ, परन्तु सत् तीनों काल में रहने वाले को कहते हैं। अतएव जो वस्तु एक काल में रहे वह सत् नहीं हो सकती—यदि कहा जाए अभौतिक मूर्ति है तो हो नहीं सकती—क्योंकि अभौतिक मूर्ति में दृष्टान्त का

अभाव है, और प्रत्यक्ष का विरोधी होने से इसमें अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है और शब्द प्रमाण भी नहीं हो सकता, न है—यदि कहें कि निरवयव मूर्ति है, तो सत् परमाणु धर्म वाला होगा और परमाणु एकदेशी है, अतएव सत् भी एकदेशी होगा, यह भी असम्भव है। क्योंकि कोई सान्त पदार्थ अनन्त नहीं हो सकता, अतएव सत् से सारे जगत् के नियम नहीं चल सकते परन्तु परमात्मा सारे जगत् का नियन्ता है, इसलिए सत् को अमूर्ति मानना पड़ेगा। अब रहा चित्, यह कभी मूर्ति वाला हो ही नहीं सकता क्योंकि मूर्तिमान् पदार्थ भौतिक है और भौतिक जड़ पदार्थ हैं, अर्थात् ज्ञान-शून्य, चित् जो ज्ञान का अधिकरण है वह किस प्रकार जड़ हो सकता है ?

द्वितीय, भौतिक पदार्थ अनित्य हैं, यदि चित् अनित्य है तो सत् के साथ तीन काल में किस प्रकार रह सकता है ? अतएव चित् भी मूर्ति वाला नहीं हो सकता—अब रहा आनन्द, वह भी तीन काल में सत् के साथ रहता है अतएव उसको भी मूर्ति वाला नहीं कह सकते।

पाठकवृन्द! उपर्युक्त लेख से सिद्ध होगया कि सच्चिदानन्द साकार नहीं प्रत्युत् निराकार है, और ईश्वर सर्व शक्तिमान् है। साकार वस्तु सीमाबद्ध होगी और जो सीमाबद्ध होगी उस के गुण तथा शक्ति भी वैसी ही होगी। और जिस की शक्ति सीमा बद्ध होगी वह सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता। इस से ज्ञात हुआ कि निराकार ही सर्व शक्तिमान् होसकता है। इसका प्रयोजन यह नहीं कि प्रत्येक निराकार सर्वशक्तिमान् है किन्तु सर्वशक्तिमान् अवश्य निराकार है। बहुत से महाशय कहेंगे कि जिसका रूप नहीं वह वस्तु ही नहीं, परन्तु स्मरण रहे कि वायु रूप रहित है

क्या वह वस्तु नहीं। मन, बुद्धि, सुख, दुःख, गरमी, सर्दी, काल, दिशा, आकाश यह सारी वस्तुयें आकार से रहित हैं, क्या यह नहीं हैं ?

प्रिय पाठक! ईश्वर अजन्मा और जगत् का कर्त्ता है परन्तु साकार पदार्थ स्वयं परमाणु संयोग से बना हुआ है वह किस प्रकार जगत् का आदि कारण हो सकता है, ईश्वर अमृत है परन्तु साकार पदार्थ सावयव होने से नाश वाला होता है, अतएव वह अमृत नहीं हो सकता। ईश्वर सर्वव्यापक है और अनन्त है। अनन्त दो प्रकार का होता है एक देश योग से दूसरा काल योग से, परन्तु साकार पदार्थ सावयव और जन्य होने से काल योग से तो सांत ही है और सीमा वाला होने से देश योग से भी शांत होगा, इस कारण कोई साकार पदार्थ अनन्त नहीं हो सकता और ईश्वर अनन्त है इस कारण वह साकार नहीं।

ईश्वर निर्विकार है परन्तु साकार पदार्थ सावयव होने से ६ प्रकार के विचारों अर्थात् जन्म, वृद्धि, स्थिति, परिणाम. घटने और नाश होने से बच नहीं सकता। अतएव ईश्वर निराकार है— ईश्वर सर्वाधार है, साकार पदार्थ एकदेशी होने से सर्वाधार हो नहीं सकता और दूसरे उसकी स्वयं आधार की आवश्यकता होगी। साकार मानने वालों ने स्वयं स्वीकार किया है। किसी का मन्तव्य है कि ईश्वर सिंहासन पर विराजमान है और उसी सिंहासन का आधार देवता है। किसी का मन्तव्य है कि क्षीर-सागर में परमात्मा शेष की शय्या पर शयन करते हैं। किसी ने उसका स्थान वैकुण्ठ माना है। परिणाम यह है कि साकार मानने वाले स्वयं उसको आधार की आवश्यकता मान रहे हैं।

महाशय! जब मनुष्यों में यह अज्ञान आगया कि परमेश्वर साकार है तो उसी समय उसको एकदेशी समझ कर उसके

प्रबन्ध के वास्ते सहायक ढूंढने आरम्भ किये। किसी ने कहा फरिश्तों के द्वारा उसके कार्य्य होते हैं और दुनियां में पैगम्बर का होना तसलीम कर बैठे। इतना विचार न हुआ कि पैगम्बर के अर्थ पैग़ाम लाने वाले के हैं और पैग़ाम कुछ दूरी से आया करता है। क्या कोई बतला सकता है कि परमेश्वर और मनुष्य के बीच में कितना अन्तर है? जिसके कारण पैग़म्बरों की आवश्यकता हुई? नहीं २ किन्तु पैग़म्बरों पर वही फरिश्तों द्वारा प्रकट होना स्वीकार करना पड़ा। अर्थात् परमेश्वर को बिलकुल असमर्थ-सा बना दिया। दूसरी तरफ़ किसी ने साकार मानकर उसको बेटा बना लिया और उसको खुदा के दक्षिण हाथ की ओर जा बिठलाया और यह न सोचा कि दांया बांया सीमावद्ध पदार्थ का होता है, सीमाबद्ध पदार्थ नाशवान् होता है अतएव परमेश्वर भी नाशवान् हो जायगा, और प्राय: लोगों ने उसका सिंहासन, उसके गण, उसके स्त्री आदि बातें कल्पना करलीं, उन्होंने वास्तव में ईश्वर को गृहस्थी मनुष्य बना दिया है और इस प्रकार की चिन्ताओं में ग्रसित कर दिया है कि उसको वास्तविक ईश्वर की पदवी से गिरा दिया, जब यह दशा हुई तो सारे संसार में पाप का विस्तार होगया। मनुष्य लोग ईश्वर से अधिकांश राजा और कुटुम्बियों का भय खाने लगे, उन्होंने समझ लिया कि ईश्वर किसी स्थान पर होगा।

महाशयो! इस समय जो पाप संसार में विस्तृत हुआ दृष्टिगत हो रहा है यह सब ईश्वर के साकार मानने से फैल गया है। यदि ईश्वर को निराकार माना जाता तो संसार में पाप फैल ही नहीं सकता था, क्योंकि यह तो हम दृष्टिगत करते हैं कि जीव फलप्रदाता शक्ति से नित्य भयातुर होता है, जैसे यदि कहीं पुलिस विद्यमान हो, वहां कोई चोर चोरी नहीं करता। जब

पुलिस को स्वप्न में अथवा दूर दृष्टिगत करता है तब पाप करता है। कोई मनुष्य अपने माता-पिता के सम्मुख व्यभिचार नहीं करता। इससे ज्ञात होता है कि यदि मनुष्य को इस बात का निश्चय हो कि परमात्मा प्रत्येक स्थान में विद्यमान है और संसार का अन्धेरे से अंधेरा कोण अथवा पर्वत की अंधेरे से अंधेरी गुफा परमात्मा से शून्य नहीं है तो इस दशा में वह किसी प्रकार और किसी स्थान में भी छिप कर पाप कर्म नहीं कर सकता, परन्तु साकार मानने से तो ईश्वर एकदेशी होगा और उसको सब स्थान में विद्यमान किसी प्रकार नहीं मान सकते और ससीमवस्तु से बच कर निकलने के लिए मनुष्य की आत्मा कोई न कोई मार्ग निकाल लेती है। जैसे ससीम राजा की ससीम शक्ति से बचने के लिए देश से भागकर अन्य देश में चला जाना प्रथम उपाय है, पुलिस को घूस देकर बच जाने का प्रयत्न करना द्वितीय उपाय है। असत्यवादी साक्षियों से मिथ्यासाक्ष्य दिला कर और अन्य मनुष्यों के असत्य वचन से लाभ उठाने का यत्न करना तीसरी युक्ति है। और वकीलों के द्वारा न्यायकारियों को भ्रम में डालने का यत्न करना चतुर्थ मार्ग है। इसी प्रकार अन्य भी अधिक मार्ग जो ससीम शक्ति के दण्ड के निवृत्यर्थ वर्त्ते जाते हैं। यह सब साकार दशा में हो सकते हैं, निराकार और चैतन्य शक्ति को सर्व-अन्तर्यामी होने की दशा में इस प्रकार का कोई यत्न लाभदायक नहीं हो सकता, उस दशा में मनुष्य पाप करके सुख की आशा नहीं रख सकता और दुःख की आशा रख कर कोई कार्य किया ही नहीं जाता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि निराकार के मानने से मुक्ति है। साकार से नहीं। क्योंकि मुक्ति ईश्वर-ज्ञान के अतिरिक्त हो ही नहीं सकती, और ईश्वर के साकार मानने से भी मुक्ति नहीं

हो सकती। अतएव साकार ईश्वर में मुक्तिदाता होना जो ईश्वर का गुण है रह नहीं सकता अतएव ईश्वर निराकार है।

महाशय गण ! युक्तियों से तो आप समझ गये होंगे कि ईश्वर साकार नहीं, क्योंकि साकार पदार्थ अनित्य और जन्य होते हैं और सर्व शक्तिमान् और सच्चिदानन्द भी नहीं हो सकते। अब शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर निराकार है।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं
यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं
तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥७॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे
दुःखमेवापि यान्ति ॥१०॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

अपाणिपादो जवनो गृहीता
पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्तिवेत्ता-
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१६॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

उससे परे बड़ा ब्रह्म है जो अशरीर होकर सब जीवों में छिपा हुआ है। सारे संसार को आच्छादन करने वाला जो एक परमात्मा ईश्वर है इसके ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है ॥७॥

अतएव वह सबसे बड़ा है और वह सब से रहित और अनादि अर्थात् निराकार है और जो लोग उसको जानते हैं वह लोग अमृत होते हैं और जो इसके ज्ञान से शून्य हैं वह सब संसार में दुःख ही भोगा करते हैं ।।१०।।

उस ईश्वर के हस्तपाद नहीं परन्तु वह गमन करता और पदार्थों को धारण करता है और वह चक्षु रहित है परन्तु वह देखता है और श्रोत्र रहित होकर सुनता है, वह सर्व संसार का ज्ञाता है और इसका यथावत् जानने वाला कोई नहीं, उसी को अग्र्य, पुरुष व्यापक कहते हैं ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

कठोपनिषद्

वह परमात्मा एक है और सारे जगत् में व्यापक और सर्व प्राणियों का अन्तर्यामी है । जिसने प्रकृति से इस नाना प्रकार के जगत् को नाना प्रकार के रूपों में किया और आत्मा में रहने वाला है जिसको धीर पुरुष प्रकृति के अन्दर व्यापक देखते हैं वही मुक्ति अर्थात् निर्विकल्प सुख को प्राप्त करते हैं अन्य नहीं ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। क०।५।१३

वह परमात्मा नित्य पदार्थों में नित्य है अर्थात् उस में स्वरूप से अथवा ज्ञान से परिणाम नहीं है । वह चैतन्य जीवों

से भी चैतन्य है अर्थात् जीव अल्पज्ञ है और वह सर्वज्ञ है। जो एक हो कर अनेकों के अर्थ पूर्ण करता है अर्थात् संसार में कर्मों का फल प्रदाता है उस जीवात्मा में स्मरण करने वाले को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हीं को निरन्तर शान्ति प्राप्त होती है, अन्यों को नहीं।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ यजु०

वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी, शरीर से रहित और नाड़ी आदि के बन्धन से शून्य, शुद्ध और पाप से शून्य है। तीन काल का ज्ञाता अन्तर्यामी और जगत् में व्यापक उस परमात्मा ने निरन्तर सुखों की प्राप्ति के लिए यथार्थ ज्ञान प्रत्येक वस्तु का वेदों द्वारा प्रदान किया है।

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

यह सारा जगत् और जगत् के प्रत्येक पदार्थ सब ईश्वर का निवास स्थान है और ईश्वर ने सब आच्छादन किया हुआ है। जो इस परमात्मा को छोड़ते हैं वह जन्म-मरण रूपी महा क्लेश को भोगते हैं। ईश्वर फलप्रदाता सबका अन्तर्यामी प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है इसलिए हे जीव! तू किसी का धन लेने की इच्छा न कर! यदि तू ईश्वर को त्याग अन्य की वस्तु लेगा तो अवश्य दुःख पावेगा।

महाशयो! जब प्रमाणों से भी सिद्ध होगया कि ईश्वर निराकार और जगत् में व्यापक है, इसमें भोले-भाले भ्राता यह प्रश्न करते हैं कि यदि ईश्वर निराकार है तो उसका ध्यान

किसी प्रकार नहीं हो सकता ? मानो उनके विचारानुसार साकार-निराकार का ध्यान नहीं कर सकता, और निराकार साकार का तो विचार करना ही चाहिये कि जीवात्मा साकार है अथवा निराकार ? चूंकि जीवात्मा भी निराकार है अतएव निराकार का ध्यान निराकार ही करता है और जो साकार पदार्थ हैं उनमें निराकार गुण का ही जीवात्मा ग्रहण करता है। जैसे फूल को जब देखते हैं तो प्रथम रंग का ज्ञान होता है जो निराकार है, द्वितीय गन्ध का ज्ञान होता है वह भी निराकार है, तीसरे परिमाण का ज्ञान होता है वह भी निराकार है, इस प्रकार जीवात्मा गुणों के अतिरिक्त किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं करता, और गुण निराकार है, और जो लोग कृष्णादि महात्माओं की मूर्ति में भी ध्यान लगाते हैं वह भी निराकार गुणों का ही ध्यान होता है, जैसे कि काला रंग आकार और गुण यह सब निराकार पदार्थ हैं इन्हीं का ज्ञान होता है। महाशयो ! चूंकि मनुष्य का उद्देश्य संसार में मुक्ति प्राप्त करना है और मुक्ति दृष्ट पदार्थ से हो नहीं सकती जैसा कि महात्मा जी अपने सांख्य सूत्र में बतलाते हैं—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ।१। अ० २

अर्थात् दृश्य पदार्थों से अत्यन्त दुःख निवृत्ति प्राप्त नहीं होती क्योंकि दृश्य पदार्थ के संयोग से जो दूर दुःख होता है वह इस पदार्थ के वियोग से फिर उत्पन्न हो जाता है यह नित्यप्रति का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतएव उपनिषदों में लिखा है कि देवता लोग परोक्ष अर्थात् जो पदार्थ आँखों से दृष्टिगत नहीं होते अर्थात् जिनको ज्ञान इन्द्रियों से न जानने योग्य पदार्थ समझते हैं अर्थात् विद्वान् लोग आत्मा जो इन्द्रियों से नहीं जाना जाता उस का प्यार करते हैं और प्रत्यक्ष जो प्राकृत पदार्थ हैं उनसे

घृणा करते हैं क्योंकि प्रकृति दुःख स्वरूप है अतएव इससे मिथ्या ज्ञान और मिथ्या ज्ञान से राग व द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग से वस्तु की प्राप्ति का यत्न उत्पन्न होता है और इस यत्न से धर्म-अधर्म दो प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं और मनुष्य पाप और पुण्य करता है और उस पाप और पुण्य का फल दुःख सुख भोगने के अर्थ जन्म-मरण धारण किया जाता है जो महा दुःख रूप है। महाशयो ! इससे आपको विदित हो गया कि निराकार ईश्वर और साकार प्रकृति है और साकार के संयोग से दुःख और निराकार से सुख लाभ होता है। अतएव आप ईश्वर को निराकार मान कर शान्ति की प्राप्ति करें।

॥इति॥

ईश्वर विचार।

(३)

इस बात को तो प्रत्येक मनुष्य जानता है कि बिना प्रयोजन कोई मूर्ख से मूर्ख आदमी भी किसी काम को आरम्भ नहीं करता और बुद्धिमान तो सदैव अन्वेषण करके काम आरम्भ करते हैं इसलिये विचारना यह है कि ईश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये विशेष कर उन लोगों पर जो कर्मों की फिलासफी के कायल (मानने वाले) हैं जिनका सिद्धान्त यह है कि ईश्वर कर्मों का फल देते हैं और कर्म के बिना कुछ नहीं मिलता आवश्यक है कि वह इस मसले (विषय) को स्पष्ट करें कि ऐसी दशा में ईश्वर को उपासना से कुछ हो सकता है या नहीं- प्यारे पाठकगण! इससे पहिले कि इस विषय पर विचार किया जावे यह बात आवश्यक विदित होती है कि हम दो शब्द का अर्थ जान जावें कि ईश्वर उपासना किसे कहते हैं और वह किस

प्रकार हो सकती है। ईश्वर शब्द के अर्थ मालिके कुल(सर्वेश्वर) या ऐसी शक्ति के हैं कि जो सत् चित् और आनन्द के शब्द से व्यवहृत की जाती है, और उपासना के अर्थ पास या समीप बैठने के हैं। यहां प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या ईश्वर हम से दूर है जिससे हमें उसकी उपासना करनी चाहिए। दूरी का आधार तीन दशाओं पर आयद(निर्भर)होता है। एक दूरी मकानी(स्थान सम्बन्धी),दूसरी जमानी (काल सम्बन्धी),तीसरी इल्मी (ज्ञान) सम्बन्धी। जैसे हम से सूर्य लोक करोड़ों कोस दूर है तो उसको स्थान की दूरी कहते हैं या पाँडवों के पांच सहस्र वर्ष पश्चात् हम लोग उत्पन्न हुए इसे काल की दूरी कहते हैं या बहुत वार हम अपने को भूल जाते हैं, या समीप की वस्तुओं को भ्रान्ति के कारण नहीं देख सकते इसको ज्ञान की दूरी कहते हैं, अब देखना चाहिए कि ईश्वर में और हममें किस प्रकार की दूरी है क्योंकि उपासना शब्द में यह सिद्ध करना है कि किसी न किसी प्रकार की दूरी अवश्य है जिसके दूर करने के लिए उपासना की आवश्यकता है, बहुत से मनुष्य ईश्वर और मनुष्यों में देश की दूरी मानते हैं और वह इस दूरी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं और ऐसे ही मनुष्यों ने ईश्वर के लिए किसी स्थान विशेष को नियत कर लिया है परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य ईश्वर को महदूद (परिमित) नहीं मान सकता क्योंकि महदूद (परिमित) वस्तु की शक्ति भी महदूद (परिमित) ही होती है, पस ला महदूद (अपरि मित) के साथ स्थान की दूरी तो हो नहीं सकती। यदि की काल दूरी मान लें तो भी मुमकिन (सम्भव) नहीं क्योंकि समय का भेद अनित्य पदार्थों में होता है और जीवात्मा और परमात्मा दोनों नित्य पदार्थ हैं। इनमें काल का फर्क (भेद) भी नहीं वरन् नित्य पदार्थ की किसी वस्तु के साथ कभी काल की दूरी नहीं हुआ करती, अब रही

ज्ञान की दूरी, सो यह प्रत्येक मनुष्य को मानना पड़ता है क्योंकि हरएक मनुष्य ईश्वर के ज्ञान से पूर्ण परिचय नहीं रखता और जब यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान की दूरी है तो अब हमें ईश्वर के ज्ञान को प्राप्त करना ही उसकी उपासना विदित होती है। अब सोचना चाहिए कि दुनिया में उपासना किसकी और क्यों की जाती है। हम देखते हैं कि जब किसी आदमी को सर्दी सताती है तो वह गर्मी के लिए अग्नि और वस्त्र की उपासना करता है और जब गर्मी सताती है तो वह जल और ठंडो वायु और इसी प्रकार की ठंडी वस्तुओं की उपासना करता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि जब हमें किसी वस्तु की उपासना से कष्ट पहुंचता है तो उसके दूर करने के लिए उसके अनुकूल शक्ति की उपासना करते हैं या जिस वस्तु को हम सुखदायक समझते हैं, वह जहां से मिले उसकी उपासना की जाती है। अब तो आप स्पष्ट समझ गये होंगे कि उपासना दुःख से बचने और सुख को प्राप्त करने के लिए की जाती है। प्यारे पाठकगण ! अब सोचना यह है कि हमको दुःख किस-किस वस्तु से प्राप्त होता है ताकि हम उसके प्रतिकूल शक्ति की उपासना करें, जिससे दुःख दूर हो जावे। जब हम संसार की वस्तुओं की ओर देखते हैं जो यद्यपि बहुत सी शक्तियों के होते हुये हमारे सन्मुख होती हैं, केवल दो शक्तियां हैं कि जिनसे हमारा सम्बन्ध है। एक तो ज्ञात शक्ति है, दूसरी अज्ञात शक्ति है। जो वस्तुयें हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभव होती हैं वह सब की सब अज्ञात हैं इन शक्तियों के समूह को प्रकृति के नाम से पुकारते हैं और जितनी ख्वाहिशात (कामनायें) हैं उत्पन्न होकर कष्ट का कारण होती हैं वह सब इसी संघात (मजमूये) का कारण हैं। प्रत्येक दुःख का कारण प्रकृति है परन्तु यदि विचार से सोचा

जावे कि क्या कारण है कि हम ज्ञाता होते हुए भी इस अज्ञात संघात के सेवक हो जाते हैं तो इसका उत्तर यह है कि हमारा ज्ञान निर्बल है, और संघात भिन्न-भिन्न प्रकार की दशाओं में दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि हमने इसको प्रथम किसी दशा में अस्वीकार भी किया हो परन्तु नूतन दशा में उसके पश्चात् हममें फिर उसकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार हम सदैव अपनी ज्ञान शक्ति को ढिलमिल दशा में देखते हैं जिससे सदैव हमको कष्ट होता है। यथा—एक मनुष्य ने उत्तम फल खाया जो उदर में जाकर पुरीष, मूत्र, रुधिर, अस्थि, मांस मज्जा, वीर्य इत्यादि की भिन्न-भिन्न दशाओं में परिवर्त्तन हो गया। हमें इन वस्तुओं से पूर्ण घृणा होगई है परन्तु जब यह वस्तुयें पुनः पृथ्वी के नीचे से दूसरे फल के रूप में उत्पन्न होवें तो हमारा मन जो पहिली दशा में घृणा करता था फिर लल-चाने लग गया। इसी भांति के व्यवहार प्रतिदिन हमारे सन्मुख प्रत्येक वस्तुओं में दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। परन्तु हम प्रकृति के मूल कारण से परिचित (भिज्ञ) नहीं इसलिए उसकी आनन्दप्रद दशा पर आनन्दित होकर जीवन को उसके प्राप्त करने में व्यय किया करते हैं इससे न तो इच्छा ही पूरी होती है और न दुःख ही दूर होता है और निष्फल हमको मन, इन्द्रिय और शरीर की सेवा करनी पड़ती है।

पाठकगण ! अब आप समझ गये होंगे कि हमारे दुःखों का कारण प्रकृति की जड़ को न जानना है, और संसार में कोई ऐसा मनुष्य नहीं कि जिसने अपने ही अन्वेषण (छानबीन) से प्रकृति की सम्पूर्ण दशा का ज्ञान उपार्जन कर लिया हो, अतः प्रकृति की जड़ न जानने और उसकी विरुद्ध शक्ति के न जानने से संसार से हमको दुःख हो रहा है, इस कारण हमारा कर्त्तव्य

है कि हम ऐसी वस्तु को जो प्रकृति के प्रतिकूल गुणों से आने वाली हो जानने का प्रयत्न करें और उसकी उपासना से प्रकृति से उत्पन्न हुए दु:खों को दूर करें। प्यारे पाठकगण! जब प्रकृति की दशाओं को हम देखते हैं तो विदित होता है कि प्रकृति सर्वव्यापक अपरिणामिनी और गैरमुदरिक (जड़) है अतः प्रकृति की दशा से वही परिचित हो सकता है जो सर्वव्यापक और मुदरिक (ज्ञाता) हो, अतएव कोई जीवात्मा जो सर्व-व्यापक हो नहीं सकता इस कारण सर्वव्यापक मुदरिक [ज्ञाता] एक परमात्मा है और उसी को प्रकृति का यथार्थ ज्ञान है अत: जीव को प्रकृति का यथार्थ ज्ञान उसी से मिल सकता है, दूसरे जीवात्मा दु:ख-सुख दोनों से रिक्त है और परमात्मा आनन्दस्वरूप है तो अब दु:ख का आधार केवल प्रकृति के और कौन हो सकता है। जीवात्मा संसार में दु:ख को छोड़ना अपने जीवनका उद्देश्य समझता है और दु:ख प्रकृति के सम्बन्ध से पैदा होता है और प्रकृति के व्यापक और नित्य होने से जीवात्मा प्रकृति से सदैव सम्बन्ध रखता है जिससे जीवात्मा सर्वदा दु:ख पाता रहता है। अब दु:खस्वरूप प्रकृति की विरुद्ध शक्ति परमात्मा के अतिरिक्त जो आनन्द-स्वरूप है, जीव किस की उपासना से दु:ख से छूट सकता है? इस कारण जीव को परमात्मा की उपासना करनी योग्य है।

प्यारे पाठकगण! हमारे बहुत से मित्र बहुधा यह प्रश्न करते हैं कि हमने एक वार परमात्मा को जान लिया अब प्रतिदिन उपासना करने की क्या आवश्यकता है? परन्तु उनको स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार सर्दी की ऋतु में कोई मनुष्य अग्नि और कपड़े के कारण सर्दी से छूट जावे, जब उसका शरीर गर्म हो जावे तो वह अग्नि और कपड़े फेंक

दे तो अवश्य थोड़ा देर में उसे फिर सर्दी सताने लगेगी और उसे दुबारा अग्नि और वस्त्र की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार नित्यप्रति ईश्वर की उपासना की आवश्यकता है। कुछ तो उपासना प्रकृति ने स्वतः ही नियत करदी है जिससे जीव संसार में जीवित रहता है। यदि यह उपासना न होती तो पापी जीवात्मा दुःख के बोझ से पीड़ित हो जाता। परन्तु परमात्मा की कृपा से कुछ देर इसी ईश्वर की विना जाने उपासना करनी पड़ती है जिससे उसके सम्पूर्ण दुःख नष्ट होकर उसे पुनः काम करने की शक्ति आ जाती है। इस उपासना को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं जब कि जीव के बाह्य ज्ञान के साधन मन, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि बाह्य सम्बन्धों से दुःख पाते-पाते थक जाते हैं और वह अधिक दुःख उठाने के योग्य नहीं रहते तो वह सब थक कर अपना काम छोड़ देते हैं, उनके काम त्यागन करने से जीवात्मा से प्रकृति का सम्बन्ध छूट जाता है। जीवात्मा का यह नियम है कि वह किसी न किसी वस्तु की उपासना ज्ञान द्वारा प्रयत्न से करता रहे। इस कारण प्रकृति की उपासना के साधनों के न होने से वह अपने भीतर जाकर परमात्मा की उपासना आरम्भ करता है जिससे वह सम्पूर्ण दुःखों को भूलकर आनन्द में ऐसा मग्न होता है कि उसे किसी की सुध नहीं रहती, परन्तु परमात्मा की उपासना से शान्त होकर जीव के मन, इन्द्रिय इत्यादि उस थकावट से विश्रान्ति प्राप्त कर लेते हैं तब वह जीव को पुनः प्रकृति के बाह्य पदार्थों की उपासना में लगा देते हैं। प्यारे पाठक गण! हमारे बहुत से मित्र प्रश्न करेंगे कि इन्द्रियों को क्या आवश्यकता पड़ी कि वह आत्मा को परमात्मा से हटा कर प्रकृति की ओर लगाते हैं—इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मानन्द सुषुप्ति इ० दशाओं से प्राप्त होता है वह

इन्द्रियों को अनुभव नहीं होता—क्योंकि वह उनका विषय नहीं और विषय का आनन्द इन्द्रियों को अनुभव होता है। जिस प्रकार जगत् में बहुत से दलाल व्यापारी को झूठी दूकान पर ले जाते हैं कभी सच्ची दूकान पर नहीं ले जाते क्योंकि सच्ची दूकान से उन्हें दलाली मिलने की आशा नहीं और झूठी दुकानों से दलाली अवश्य मिलती है इसलिये वह व्यापारी की हानि को जानकर भी उसे योंही झूठी दूकान पर ले जाते हैं। ऐसे ही आत्मा के दुःख को अनुभव करके भी मन और इन्द्रिय जीवात्मा को प्रकृति के विषयों में ही लगाना चाहती है। हमारे बहुत से मित्र जो सुषुप्ति को तमोगुण की वृत्ति मानते हैं हमारी सुषुप्ति को ईश्वर उपासना मानने के विरुद्ध युक्ति प्रविष्ट करेंगे और हमारी बात को मनघड़न्त बतलावेंगे, परन्तु उनको स्मरण रखना चाहिए कि हमारी राय नहीं वरन् महात्मा कपिल मुनि ने अपने सांख्य शास्त्र में भी इस बात को माना है। वह महात्मा कहते हैं—

"समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता" अ० ५।११६

अर्थात् ब्रह्म सच्चिदानन्द है। जीव सत् चित् है और जीव की तीन दशाओं में ब्रह्म के सम्बन्ध से आनन्द की प्राप्ति होती है। अर्थात् सत्, चित्, आनन्द होता है वह तीन दशाओं में एक समाधि, दूसरी सुषुप्ति और तीसरी मुक्ति है। हमारे पाठकगण इस बात पर शंका करेंगे कि जब इन तीन दशाओं में जीव में आनन्द आ जाता है तो जीव-ब्रह्म में भेद नहीं रहता ? परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि आनन्द ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है। और जीव को नैमित्तिक ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होता है। जैसे गरमी के दिनों में वायु में गरमी आ जाती है परन्तु

गर्म स्पर्श वाली होने से भी वायु अग्नि नहीं हो जाती। इसी भांति ब्रह्म की उपासना से जीव में आनन्द आ जाता हैं परन्तु जीव ब्रह्म नहीं हो जाता। प्यारे पाठकगण! आप कहेंगे कि इन तीन दशाओं में क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि जब ज्ञान-रहित और शरीर सहित जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है उसे सुषुप्ति कहते हैं और जब ज्ञान सहित और शरीर सहित जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है तो उसे समाधि कहते हैं और जब ज्ञान सहित और शरीर रहित जीव का ब्रह्मसे सम्बन्ध हो उसे मुक्ति कहते हैं। अब आप सोच सकते हैं कि जिस सुषु-प्ति में ज्ञान के न होने पर भी ब्रह्म की उपासना सम्पूर्ण दु:खों को दूर करती है, क्या उस ब्रह्म की उपासना जीव को दु:ख से छूटने के लिए न करनी चाहिए? बहुधा मनुष्य हमारी समाधि और सुषुप्ति की तुलना पर शंका करेंगे परन्तु स्वामी शंकरा-चार्य भी लिखते हैं [शेते सुखं कस्य समाधिनिष्ठा:] अर्थात् प्रश्न था कि सुख से कौन सोता है? उत्तर दिया गया कि जो समाधि में चित्त की वृत्तियों को स्थिर करता है।

प्यारे पाठकगण! आप नित्य स्नान कर शरीर के मैल को दूर करते हो, जो थोड़ी देर में पुन: लग जाता है या नित्य वस्त्र धुलवाने में जो फिर मैला हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति के सम्बन्ध से सदैव अज्ञान और पाप के मैल को प्राप्त करता है, इस कारण प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष का काम है कि इस प्रकृति से उत्पन्न होने वाले अज्ञान और पाप को दूर करने के लिए सदैव शुद्ध विज्ञान वाले परमात्मा की उपासना किया करे जिससे ये मैल जमने न पाये क्योंकि यदि नित्य शरीर शुद्ध किया जावे तो बड़ी सुगमता से मैल उतर जाता है परन्तु मैल अधिक देर का हो जाने मे बहुत कठिनता ने दूर होता है, इस

भांति जब तक पाप का स्वभाव पुष्ट नहीं हो जाता तब तक थोड़ी देर तक उपासना करने से भी जीव के मन के भाव बुराई की ओर कम चलते हैं परन्तु उनके स्वभाव बुरे हो गये तो फिर बहुत कठिनता से यह पाप की टेव छूटती है। प्यारे पाठकगण! चूंकि प्राकृत नियम है कि वस्त्र विना परिश्रम के मैला हो जाता है परन्तु उस के शुद्ध करने के लिए परिश्रम की आवश्यकता है। अब आप समझ गये होंगे कि प्रकृति और विषयों का सम्बन्ध तो जीव को सदैव स्वयं होता रहता है जिससे जीव को सदा दुःख ही प्राप्त होता है इस दुःख से छूटने के लिए जीव को पुरुषार्थ करके परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। प्यारे पाठकगण! यह भी आपको विदित रहे कि मन किसी न किसी पदार्थ के साथ सम्बंध अवश्य रखता है, यदि परमात्मा की उपासना करेंगे तो प्रकृति की उपासना से अवश्य दुःख मिलेगा चूंकि मन प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की इयत्ता पर पहुंच जाता है इस कारण वह प्रकृति की उपासना से शान्ति नहीं होती और एक वस्तु को छोड़ने, दूसरी को प्राप्त करने में जो पुरुषार्थ होता है उसके मन के विचार थक जाते हैं परन्तु परमात्मा की इयत्ता को मन किसी प्रकार भी नहीं जान सकता इस कारण परमात्मा की उपासना में मनको छोड़ना और ग्रहण करना नहीं पड़ता इस कारण मन इस गहरे समुद्र में डूब जाता है जहां उसे तनिक सी भी थकावट और दुःख का अनुभव नहीं होता।

प्यारे मित्रो! अब आप समझ गये होंगे कि ईश्वर की उपासना के विना मनुष्य अपने अभीष्ट स्थान को कभी प्राप्त नहीं कर सकता और न संसार के दुःखों से छूट सकता है। यद्यपि बहुत से मनुष्य विषयों में भी सुख मानते हैं परन्तु यह उनकी भूल है क्योंकि विषय में तनिक भी सुख नहीं है। हमारे

बहुत से मित्र कहेंगे कि यदि विषयों में सुख नहीं तो लोग किस प्रकार विषय सुख मानते हैं, इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार कुत्ते के मुंह में हड्डी होती है और उसके मुंह से जो रुधिर निकलता है वह उसको समझता है कि यह रुधिर हड्डी से मिल रहा है इसी प्रकार जब विषय में कुछ समय एकाग्र होता है तो मनुष्य को सुख अनुभव होता है यथार्थ में सुख तो मन के एकाग्र होने से मिला था परन्तु मनुष्य समझते हैं कि विषय से सुख मिला है।

प्यारे मित्रो ! संसार में प्रकृति और परमात्मा के सिवाय जीव का सम्बन्ध किसी वस्तु से नहीं होता है और प्रकृति से दुःख मिलता है और परमात्मा से सुख प्राप्त होता है, इस कारण जीवात्मा को सदैव परमात्मा की उपासना अर्थात् उस का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जब जीवात्मा और परमात्मा को जान जाओगे तो उसको पापकर्मों से स्वयं घृणा हो जावेगी, जब पाप से घृणा हो गई तो कष्ट कभी उत्पन्न न होगा, इसलिए संसार में मनुष्य का बहुत भारी कर्त्तव्य परमात्मा को जानना है जिसके जानने से फिर दुःख की आशा नहीं रहती। फिर पाठकगण आप विचार कर लीजिए कि मनुष्य को कहां तक ईश्वर-उपासना की आवश्यकता है और इस उपासना से कितने लाभ होते हैं। हमारे बहुत से लोग कहते हैं कि जब ईश्वर-उपासना से किये हुए कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है तो फिर उपासना से क्या होगा ? परन्तु उनको स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर-उपासना से यद्यपि पाप का फल भोगते हुये भी कष्ट नहीं अनुभव होता क्योंकि दुःख का अनुभव करने वाला मन परमात्मा की उपासना में लगा है इसलिये कष्ट किसको अनुभव हो ?

ईश्वर प्राप्ति

(१)

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पर-स्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजु० ३ ।। १८)

इस वेद मन्त्र में परमात्मा जीवों को मोक्ष के साधन का उपदेश करते हैं, और बतलाते हैं कि संसार में मोक्ष के बहुत से साधन नहीं किन्तु जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने के लिए प्रकाश के अतिरिक्त दूसरा साधन नहीं हो सकता और न सरदी को दूर करने के लिए गरमी के अतिरिक्त और से काम चल सकता है, इसी प्रकार संसार में मनुष्य के जीवन-उद्देश्य अर्थात् दुःखों से छूटने का नाम या आगे को दुःख न उत्पन्न होने का नाम मोक्ष बतलाते हुए उसके एक ही साधन को (जिसके अतिरिक्त दूसरा हो नहीं सकता) उपदेश करते हैं कि— "तुम सर्वव्यापक परमात्मा को जानो जो परमात्मा सूर्यवत् प्रकाशमय है जिसमें किसी प्रकार की अज्ञानता या दोषादि का सम्भव ही नहीं, जो सर्वप्रकार के दूषणों से पृथक् है । उसी पर-मात्मा को जानने से ही अतिमृत्यु अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है, मोक्ष के लिए कोई दूसरा मार्ग हो ही नहीं सकता ।" वेद के इस मन्त्र को सुनते ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि—

"लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्न तु प्रतिज्ञामात्रेण"

अर्थात जब तक किसी वस्तु का लक्षण न कहा जावे और उसकी सत्ता के लिए कोई प्रमाण न उपस्थित किया जावे तब तक उसकी सत्ता प्रतिज्ञामात्र से नहीं सिद्ध हो सकती । इस

कारण जब तक ईश्वर का लक्षण न किया जावे तब तक "उस के जानने से मुक्ति होती है और परमात्मा के जानने के अतिरिक्त मोक्ष नहीं हो सकता, प्रतिज्ञा मात्र ही है" इस सिद्धान्त को लेकर महात्मा व्यास जी अपने वेदान्तदर्शन में ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि—

"जन्माद्यस्य यतः" । वे० द० १ । १ । २

अर्थ—जिससे इस संसार का जन्म स्थिति, और नाश होता है वह ईश्वर है अर्थात् जो इस सृष्टि का उत्पन्न करने वाला, पालने वाला और नाश करने वाला है वह ईश्वर है। इस लक्षण को सुनते ही वादी शंका करता है कि तुम्हारा यह ईश्वर का लक्षण ठीक नहीं क्योंकि यह संसार अनादि है। जब तक जगत की उत्पत्ति सिद्ध न की जावे तब तक ईश्वर का यह लक्षण किस प्रकार ठीक हो सकता है। इस कारण से कि वादी की प्रतिज्ञा जगत् को अनादि मानने की है इस पर यह प्रश्न होता है कि जगत् स्वरूप से अनादि है या प्रवाह से ? यदि यह कहो कि जगत् स्वरूप से अनादि है, यह तो किसी दशा में सत्य हो ही नहीं सकता इस दशा में जगत् का अविकारी अर्थात् ६ विकारों से पृथक् होना आवश्यक है। वह विकार ये हैं कि— "जायते वर्द्धते संस्थीयते विपरिणम्यते क्षीयते विनश्यते" जिस वस्तु में इन ६ विकारों में से कोई पाया जावे वह अनादि नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्यक्ष में भी इन ६ विकारों का उत्पत्तिमान वस्तु में ही होना पाया जाता है। जैसे एक बालक उत्पन्न होता है, बढ़ता है, युवावस्था पर्य्यन्त बढ़ना बन्द हो जाता है, फिर मूंछ डाढ़ी का निकलना, शरीर में भोजन का आना, फिर पक कर निकल जाना आदि विकार होते रहते हैं पश्चात् वृद्ध होना बन्द अर्थात् घटना आरम्भ होता है और अंत

को मर जाता है। यही दशा एक वृक्ष की है, वह बीज से छोटा-सा अंकुर निकल कर उत्पन्न होता है फिर बढ़ता है, फिर एक अवधि तक बढ़कर बढ़ना बन्द हो जाता है फिर पतझड़ और वसन्त के कारण कभी हराभरा होकर फल लाता है, कभी शुष्क होकर नंगा हो जाता है, अन्त को नाश हो जाता है। यह आवश्यक नहीं कि किसी वस्तु में छहों विकार एक साथ ही हों किन्तु अपने-अपने समय में एक या दो ही रहते हैं, जो उस वस्तु में अपने दूसरे सहचारियों के होने को सिद्ध करते हैं। जब कि हम सम्पूर्ण जगत् को विकार वाला प्रतीत करते हैं तो उसको किस प्रकार अनादि स्वीकार कर सकते हैं? अनादि वस्तु के लिए निर्विकार अर्थात् बढ़ने-घटने से पृथक् होना आवश्यक है। जबकि यह सृष्टि किसी प्रकार भी विकार रहित सिद्ध नहीं होती तो किसी प्रकार यह स्वरूप से अनादि नहीं कहला सकती। यदि कहो कि प्रवाह से अनादि है तो इस प्रवाह के चलाने वाले का होना (अर्थात् जो किसी समय बनावे और किसी समय न बनावे) उचित है। इस पर वादी यह कहता है कि यद्यपि जगत् में भिन्न-भिन्न वस्तुयें दशा बदलती हुई दृष्टि पड़ती हैं परन्तु समष्टि-सृष्टि दशा नहीं बदलती इस कारण सृष्टि को स्वरूप से अनादि मानना ठीक है। यहां पर हम वादी से पूछते हैं कि वास्तव में सृष्टि इन सब वस्तुओं के समूह का नाम है या कोई दूसरी वस्तु है? यदि कहो कि वस्तुओं के समूह का नाम सृष्टि है तो जिस समूह के अवयव दशा बदलते हैं वह समूह विकार रहित नहीं हो सकता, जैसे एक मनुष्य के हाथ, पांव, उदर, शिर आदि सम्पूर्ण अवयव निर्बल हो गये तो यदि वह कहे कि मेरा शरीर निर्बल हुआ तो उसे मूर्ख ही कहना पड़ेगा क्योंकि अवयवों के समूह के अति-

रिक्त शरीर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इस कारण सृष्टि के सम्पूर्ण अवयवों को विकारी मानकर सृष्टि को समष्टिरूप से निर्विकार बतलाना सर्वथा अज्ञानता है। यदि वादी कहे कि इन वस्तुओं के समूह के अतिरिक्त सृष्टि कोई दूसरी वस्तु है तो उसकी सत्ता का प्रमाण देना चाहिए। वादी कहता है कि यदि सृष्टि के प्रत्येक वस्तु के उत्पत्तिमान होने से और उसका नाश देखने से सृष्टि को उत्पत्तिमान ही स्वीकार किया जावे तो भी उसका कर्त्ता ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि स्वभाव से उत्पन्न होती हैं, स्वभाव के अतिरिक्त सृष्टि का उत्पादयिता कोई नहीं। वादी की इस शंका में भी कि "सृष्टि का उत्पन्न करने वाला स्वभाव है" यह वादी की प्रतिज्ञा है। इस कारण इस प्रतिज्ञा की परीक्षा आवश्यक है। इस स्थान पर यह प्रश्न होता है कि स्वभाव द्रव्य है या गुण है? यदि वादी कहे कि स्वभाव द्रव्य है तो उसके गुण क्या हैं? यदि कहे गुण है तो किस द्रव्य का है? दूसरे गुणों से कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। सृष्टि द्रव्य है इस कारण कोई द्रव्य हीं हो सकता है वादी कहता है कि स्वभाव गुण है जो प्रकृति में रहता है प्रकृति के विशेष मिलाप से सम्पूर्ण वस्तुएं उत्पन्न हो जाती हैं। अब हम वादी से कहते हैं कि अभ्युपगम सिद्धान्तानुसार हम स्वभाव को प्रकृति का गुण मानकर उससे सृष्टि की उत्पत्ति मान लेंवे तो नाश किससे होगा क्योंकि उत्पन्न होना और नाश होना ये दो विरुद्ध गुण हैं जो किसी एक वस्तु में रह ही नहीं सकते। अब वादी इसका उत्तर देता है कि प्रकृति में संसार के नाश और उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है उत्पत्ति संयोग या मिलाप से होती है प्रकृति के अन्तर्गत जल है जिसका गुण संयोग है और दूसरी वस्तु प्रकृति से अग्नि है जिसका काम विभाग करना है इस कारण जल से मिलाप होकर

वस्तुओं की उत्पत्ति और अग्नि से अवयव छिन्न-भिन्न होकर वस्तुओं का नाश हो सकता है। इस कारण अग्नि और जल दो प्रकार की वस्तुयें प्रकृति के अन्तर्गत होने से विरुद्ध गुणों की एकता का दोष इस स्थान पर नहीं घटता। वादी के इस उत्तर को सुनकर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रकृति में उत्पन्न करने और नाश करने की शक्तियाँ तीन दशाओं में रह सकती हैं या तो उत्पन्न करने की शक्ति अधिक और नाश करने की शक्ति न्यून हो या नाश करने की शक्ति अधिक और उत्पन्न करने की शक्ति न्यून हो या दोनों सम हों परन्तु प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति आदि का होना इन तीनों दशाओं में असम्भव है चौथी दशा कोई हो ही नहीं सकती, यदि वादी उत्पन्न करने की शक्ति अर्थात् संयोग को अधिक मानेगा तो प्रत्येक वस्तु बढ़ती ही चली जायगी। कोई वस्तु घटेगी नहीं क्योंकि जिस क्षण में संयोग की शक्ति की अधिकता से उस वस्तु में पांच परमाणु मिलेंगे उस क्षण में वियोग अर्थात् घटने की शक्ति के कम होने से चार परमाणु पृथक् होंगे अर्थात् प्रतिक्षण एक परमाणु बढ़ता जायगा घटने का अवसर कभी आवेगा ही नहीं परन्तु यह प्रतिज्ञा सर्वथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि सृष्टि में वस्तु घटती-बढ़ती दोनों दशाओं में पाई जाती है जो ऐसा मानना असम्भव है इसलिए यह प्रतिज्ञा स्थिर नहीं हो सकती कि प्रकृति में उत्पन्न करने की शक्ति अधिक हो। दूसरे यदि नाश करने की शक्ति अधिक मानी जावे और उत्पन्न करने की शक्ति न्यून, तो उस दशा में जिस क्षण में पांच परमाणु पृथक् होंगे और चार मिलेंगे तो इस दशा में प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु से एक परमाणु घटता ही चला जायगा कोई वस्तु बढ़ेगी नहीं परन्तु यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध प्रतीत होती है। क्योंकि जगत् में बहुत वस्तुयें बढ़ती हुई दृष्ट होती हैं। तीसरी दशा यह है कि दोनों

शक्तियें तुल्य स्वीकार की जावें उस दशा में जिस क्षण में एक वस्तु में पांच परमाणु संयुक्त होंगे उसी क्षण में पांच ही वियुक्त होंगे क्योंकि दोनों शक्तियें अव्याहत और तुल्य काम कर रही हैं इस दशा में सृष्टि की कोई वस्तु न बढ़ेगी और न घटेगी किन्तु सर्व सृष्टि एक ही दशा में रहेगी यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से स्पष्ट असत्य है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु सृष्टि में एकसी नहीं दीखती, सब बढ़ती-घटती हुई पाई जाती हैं। जैसा दिन कल था वैसा आज का दिन नहीं है क्योंकि उससे अनुमान डेढ़ मिनट के अधिक होता है आज की रात कल की गत रात के बराबर नहीं, वह उससे न्यून होगी। इस प्रकार विचार करने से सम्यक्तया बोध होता है कि स्वभाव से उत्पत्ति का होना असम्भव है, दूसरे संयोग और वियोग दोनों गुण कर्म से उत्पन्न होने वाले हैं और कर्म्म प्रकृति का स्वाभाविक धर्म्म है या नैमित्तिक यह प्रश्न होता है? यदि कर्म प्रकृति में स्वाभाविक धर्म मान लिया जावे तो कोई प्राकृत वस्तु स्थिर नहीं पावेगी क्योंकि स्वाभाविक धर्म किसी वस्तु का रुक नहीं सकता परन्तु यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि हम बहुत वस्तुओं को स्थिर देखते हैं।

अब वादी कहता है कि कर्म प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है, परन्तु जिन वस्तुओं को हम स्थिर देखते हैं उनको पृथिवी की आकर्षण शक्ति ने रोका हुआ है यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध होगी, फिर कोई प्राकृत वस्तु चलती हुई नहीं दीखेगी क्योंकि पृथिवी की आकर्षण शक्ति उस पर प्रभाव डालती है जैसे एक गाड़ी चल रही है दूसरी स्थिर है जब कि पृथिवी की आकर्षण शक्ति दोनों पर तुल्य प्रभाव रखती है।

प्रकृति ने कर्म को स्वाभाविक धर्म मानने से एक का चलना

और दूसरी का न चलना किस प्रकार सम्भव हो सकता है, उक्त दोषों के अतिरिक्त पृथिवी भी प्रकृति से बनी है वह भी गतिमान होनेसे किसी नियम के आधीन नहीं हो सकती उसका प्रत्येक परमाणु गतिमान है इस कारण उनका संयोग हो ही नहीं सकता क्योंकि पृथिवी के प्रत्येक परमाणु में उनका स्वाभाविक धर्म जो कर्म है उसे पृथक् करने के लिये उपस्थित है जिससे पृथिवी का आकर्षण भी नहीं हो सकता। इस पर वादी कहता है कि प्रकृति का प्रत्येक परमाणु गतिमान है और पृथिवी का आकर्षण उनको रोके हुए है जिसको दूसरी शक्ति अर्थात् अग्नि आदि से सहायता मिलती है वह पृथिवी की शक्ति को दबाकर चली जाती है जिसको सहायता नहीं मिलती वह रुकी रहती है।

अब फिर प्रश्न होता है कि दूसरी शक्ति जिसकी सहायता से एक गाड़ी चलती है और दूसरी उसकी सहायता न होने से रुकी हुई है यह सहायता देना उस शक्ति का स्वाभाविक धर्म है या नैमित्तिक? यदि कहो स्वाभाविक धर्म है तो उसको दोनों गाड़ियों को सहायता देना चाहिये जिससे दोनों गाड़ियां चलेंगी या स्थिर रहेंगी, एक का चलना एक का न चलना दोनों असम्भव हैं। इस कारण जगत् को उत्पत्तिमान और ईश्वर को उसका उत्पन्न करने वाला मानने के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार से व्यवस्था हो ही नहीं सकती। इसी अवसर पर वादी फिर शङ्का करता है कि यदि यह भी स्वीकार कर लिया जावे कि कोई जगत् का कर्त्ता है तो उसके होने में प्रमाण क्या है? क्योंकि यदि उसके होने में कोई प्रमाण हो तो उसके जानने से मुक्ति हो सकती है परन्तु जिसके होने में कोई प्रमाण ही नहीं तो उसको किस प्रकार जान सकते हैं? क्योंकि ईश्वर का तीन काल में प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं और जिसका प्रत्यक्ष

न हो उसे अनुमान से कैसे जान सकते हैं ? क्योंकि प्रत्यक्ष से व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को जानकर फिर उसके अनुसार अनुमान होता है और जिसका प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से ज्ञान न हो उसके लिए शब्द प्रमाण हो ही नहीं सकता जब ईश्वर को प्रमाण से जान नहीं सकते इसलिए ईश्वर का होना सत्य न ही और नहीं उसके जानने से मुक्ति हो सकती है परन्तु जब वादी से पूछते हैं कि क्या जिन वस्तुओं का इन्द्रियों से ज्ञान न होवे वह नहीं होतीं यदि ऐसा मानो तो जिन इन्द्रियों से न देखने से तुम ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हो उन इन्द्रियों को किस प्रमाण से जानते हो ? यदि कहो इन्द्रियों को इन्द्रियों से देखते हैं तो आत्माश्रय दोष है अर्थात् स्वयं ही दृश्य वस्तु और स्वयं ही देखने का साधन नहीं हो सकता । यदि कहो हम दर्पण में अपनी आंख को देखते हैं इसलिए आँख का होना आंख से ही प्रतीत होता है परन्तु यह कथन सत्य नहीं क्योंकि दर्पण में आंख नहीं दीखती किन्तु आंख का आभास उससे अनुमान के द्वारा जानना तो मान सकते हैं परन्तु यह कहना कि आँख से आंख को देखते हैं सत्य नहीं, किन्तु आँख से आँख के आभास को देखकर उससे आंख के होने का अनुमान करते हैं कि यह सत्य होगा । अस्तु, आँख का तो अनुमान से ही ज्ञान हो गया परन्तु रसनेन्द्रिय का ज्ञान किससे होगा ? न तो वह रूप है जो आंख से दीखे और न शब्द है जिसका कान से ज्ञान हो, प्रयोजन यह है कि रसना इन्द्रिय का ज्ञान किसी इन्द्रिय से नहीं हो सकता ऐसे ही अन्येन्द्रियों की दशा है जिन इन्द्रियों से न दीखने के कारण परमात्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते वे तुम्हारी इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष नहीं तो तुम्हारा सिद्धान्त स्वयमेव खण्डित होता है । इसके अतिरिक्त जो पुरुष ऐसा विचार रखते हैं कि प्रत्यक्ष ही सब प्रमाणों का मूल है और जिस वस्तु का प्रत्यक्ष न हो उसका अभाव है वे बहुत ही भ्रान्ति में पड़े हैं क्योंकि प्रत्यक्ष से किसी वस्तु का अनुमान के विना ज्ञान हो ही नहीं सकता

प्रत्येक वस्तु के एक ही भाग का प्रत्यक्ष होता है शेष का अनुमान से ज्ञान हुआ करता है। जब केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जावे तो किसी वस्तु का भी ज्ञान न होगा, दूसरे अनेक ऐसी दशा हैं कि जिनके कारण वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता। प्रथम अति समीप होने से जैसे नेत्र में सुर्मा होता है परन्तु वह नहीं दीखता, दूसरे बहुत दूर होने से जैसे लन्दन यहां से नहीं दीखता, तीसरे अति सूक्ष्म होने से जैसे परमाणु दृष्टि में नहीं आते, चौथे अति स्थूल होने से जैसे हिमालय पहाड़ सम्पूर्ण नहीं दीखता, पांचवें वस्तु और इन्द्रिय के बीच में व्यवधान होने से जैसे आंख पर हाथ रखने से कोई वस्तु भी नहीं दीखती अथवा भित्ति (दीवार) के दूसरी ओर की वस्तुएं नहीं दीखतीं, छठे इन्द्रियों में दोष हो जाने से जैसे अन्धे को रूप का ज्ञान नहीं होता और बहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता इत्यादि सातवें मन के अव्यवस्थित होने से भी नेत्रों के सामने चली जाने वाली वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता जब कि इन सात दशाओं में विद्यमान वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष नहीं होता तो प्रत्यक्ष न होने से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करना सत्य नहीं किन्तु ईश्वर के होने में अनुमान और शब्द प्रमाण विद्यमान हैं।

वादी शङ्का करता है कि अनुमान किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि जब तक व्याप्ति का ज्ञान न हो तब तक अनुमान नहीं हो सकता और व्याप्ति प्रत्यक्ष से ग्रहण की जाती है, ईश्वर का प्रत्यक्ष हुआ नहीं इसलिये व्याप्ति के न होने से अनुमान नहीं हो सकता। परन्तु वादी का यह कथन सत्य नहीं क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि प्रकृति में क्रिया नहीं, जब तक चेतन उसको क्रिया देता है तब तक ही क्रिया होती है। जिसका प्रमाण मृतक और जीवित शरीर को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है अर्थात् जब तक क्रिया देने वाला चेतन क्रिया दे रहा था तब तक यह शरीर क्रिया कर रहा था और जब चेतन पृथक् हो गया

तब वह शरीर जो प्रकृति से बना था क्रियाशून्य हो गया, इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रकृति वस्तु में क्रिया चेतन के विना नहीं हो सकती, दूसरे जिस क्रिया में नियम पाया जावे वह तो किसी प्रकार नियम बनाने वाले के बिना हो ही नहीं सकती। घड़ी जो १२ घंटे में चाबी लेती वह १२ घंटे के पश्चात् अपने उसी स्थान पर आ जाती है और जो घड़ी २४ घंटे में चाबी लेती हैं अथवा एक सप्ताह में चाबी लेती हैं वे सब घड़ियाँ १२ घंटे के पश्चात् अपने उसी स्थान पर आ जाती हैं। इन उदाहरणों के होने से सम्यक्तया विद्वान् घड़ी बनाने वाले का होना प्रतीत होता है। कोई मनुष्य भी जिसको बुद्धि हो घड़ी को उत्पत्तियान् मान कर किसी अचेतन वस्तु से बनाई हुई नहीं जानता। यद्यपि घड़ी बनाने वाले को घड़ी बनाते हुए प्रत्यक्ष नहीं देखा परन्तु अनुमान से घड़ी के कर्त्ता का होना उसे निश्चय हो जाता है क्योंकि स्वाभाविक क्रिया वाली वस्तु में लौट कर उसी स्थान पर आने का नियम हो नहीं सकता जैसे कि आगे चलना। इञ्जन में भाप के होते हुए और किसी कल के बिगड़ जाने से रुक जाना भी सम्भव है परन्तु अपने स्थान पर लौट आना किसी प्रकार सम्भव नहीं जब तक कोई चेतन न लौटावे। इस लिए जिन वस्तुओं की कुछ दिनों के पश्चात् फिर उसी स्थान पर आने की शक्ति है, वह अवश्य ही चेतन के नियम से बँधी हुई हैं। इसलिए सृष्टि के सम्पूर्ण भूगोल नियम के आधीन देखने में आते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, पृथिवी और तारागण सब के बीच में नियत क्रिया के अतिरिक्त और किसी प्रकार का नियम प्रतीत नहीं होता जिसके नियमों की परीक्षा हम सौ वर्ष पहिले से ही जान सकते हैं कि अमुक तिथि में इतने बजे सूर्य ग्रहण वा चन्द्र ग्रहण होगा जिस प्रकार हम घड़ी को देखकर प्रतीत कर सकते हैं कि इतनी देर के पश्चात् घड़ी की सुइयें अमुक स्थान पर मिल जायेंगी। ऐसे ही सूर्य और चन्द्र ग्रहण भी नियम के आधीन होने

से हमें पहले से प्रतीत हो सकते हैं। यद्यपि घड़ी को बनाने वाला चेतन मनुष्य हमें सृष्टि में दीखता है जिससे व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को जान कर हम कह सकते हैं कि इस नियमपूर्वक जगत् को बनाने वाला चेतन परमात्मा है।

ईश्वर प्राप्ति

(२)

जिस प्रकार घड़ी को नियमपूर्वक चलती हुई देख कर और उसके बनाने वाले को जो पाताल यानी अमेरिका आदि में हो, भारतवर्ष में कभी आया ही नहीं, दूर होने के कारण न देख कर हम यह कभी नहीं कहते कि इस घड़ी का कर्त्ता कोई नहीं, यह अनादि है।

ऐसे ही यद्यपि अतिसमीप होने के कारण तथा अतिसूक्ष्म होने के कारण हम प्रकृतिजन्य आंखों से परमात्मा को नहीं देख सकते तो उसके नियम से कामों को देख कर उसकी सत्ता की प्रतीति होती है, इस अवसर पर वादी यह कहता है कि यदि तुम अनुमान से ईश्वर को जगत्कर्त्ता बतलाओगे तो बहुत से दोष आवेंगे। प्रथम ईश्वर राग अर्थात् इच्छा से सृष्टि उत्पन्न करता है वा इच्छा के विना। यदि कहो इच्छा से तो इच्छा दुःख से छूटने और सुख की प्राप्ति की होती है या न्यून वस्तु को समाप्त करने की होती है। जब ईश्वर में इच्छा होगी तो वह अपूर्णकाम हो जायगा जिसमें कि ईश्वर और सांसारिक मनुष्यों में कोई भेद नहीं रहेगा, यदि कहो राग अर्थात् इच्छा नहीं तो विना इच्छा के कोई काम नहीं हो सकता क्योंकि इसके लिए सृष्टि में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता जो जैनी इस प्रकार की शङ्का करते हैं।

जब हम उनसे यह प्रश्न करते हैं कि तुम्हारे जिन तीर्थङ्करों ने तुम्हारे शास्त्र बनाये हैं वे राग अर्थात् इच्छा वाले थे या इच्छा रहित थे ? यदि कहो इच्छा वाले थे तो राग द्वेष आदि मिथ्या ज्ञान के कार्य हैं। जैसा कि न्यायदर्शन में लिखा है:—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादवर्गः ॥

अ० १ सू० २ आ० १॥

अर्थ—यहाँ पर प्रश्न यह था कि तत्त्वज्ञान से दुःख का विरोध नहीं है व तत्त्वज्ञान और दुःख में विरोध नहीं तो तत्त्वज्ञान से दुःख का नाश किस प्रकार होगा ? क्योंकि नियम यह है कि जो विरोध होता है वह नाश करने वाला होता है। अन्धकार का नाश करने वाला सूर्य के प्रकाश से अतिरिक्त और कोई नहीं होता। इसके उत्तर में महात्मा गौतम जी कहते हैं कि तत्त्वज्ञान मिथ्या ज्ञान का विरोधी है। जब तत्त्वज्ञान होगा तो मिथ्या ज्ञान का नाश हो जायगा और मिथ्याज्ञान के नाश से उससे उत्पन्न होने वाला दोष अर्थात् राग और द्वेष नहीं होंगे। इस सूत्र से स्पष्ट प्रकट है कि राग द्वेष मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होते हैं, जहाँ मिथ्याज्ञान है वहीं राग द्वेष होंगे।

अभिप्राय यह है कि राग द्वेष का होना मिथ्याज्ञान के होने का प्रमाण है। कोई मिथ्या ज्ञान के विना राग और द्वेष वाला हो ही नहीं सकता। यदि आप के तीर्थङ्करों में राग द्वेष था तो वे मिथ्या ज्ञानी हुए जिससे उनकी बनाई हुई पुस्तकों का प्रमाण ही नहीं हो सकता। यदि कहो वे राग से शून्य थे तो उन्होंने पुस्तक कैसे बनाई ? यदि कहो जो कर्म अपने लिए किया जाता है उसमें राग द्वेष की आवश्यकता है, परोपकार सम्बन्धी कर्मों में राग द्वेष की आवश्यकता नहीं। इसलिए तुम्हारे तीर्थङ्करों ने हमारे उपकार के लिए रचे हैं; जब एक मनुष्य परोपकार के लिये बिना राग कर्म

कर सकता है तो सर्वशक्तिमान् परमात्मा सब के उपकार के लिये सृष्टि क्यों नहीं रच सकता। दूसरे हमें विना राग द्वेष के ही अयस्कान्त (चम्बक पत्थर) आदि से लोहे को खींचने का काम या लोहे के चुम्बक पत्थर की ओर चले जाने का काम होता हुआ प्रतीत होता है जिससे विना राग के कर्म का होना स्पष्ट प्रतीत होता है।

वादी कहता है यदि तुम ईश्वर को परोपकार के कारण राग के विना सृष्टिकर्त्ता कहोगे तो यह सिद्ध नहीं होता क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति से बहुत से जीवों को दुःख होता है जिससे तुम्हारा ईश्वर न्यायकारी और दयालु सिद्ध नहीं होता किन्तु निर्दय और पक्षपाती पाया जाता है। यदि दयालु होता तो किसी को दुःख क्यों देता? यदि वह न्यायकारी होता तो सबको समान बनाता। किसी को मनुष्य का जन्म और उत्तम भोग भोगने के सामान दिये, किसी को बहुत ही दुर्दशा-युक्त मनुष्य बनाया, किसी को अन्धा, लूला, लङ्गड़ा बनाया, किसी को सिंह, वृकादि दांतों वाले निर्दय शरीर दिये और किसी को गाय, भैंस आदि निर्बल शरीर दिये, जो दांतों वाले मांसाहारियों का भोग बन गये, किसी को चींटी, मच्छरादि के बहुत ही तुच्छ शरीर दिये। प्रयोजन यह है कि इस सृष्टि को विचार कर देखने से सम्यक्तया बोध होता है कि कोई इस सृष्टि का उत्पादक है तो वह निर्दय और पक्षपाती है। इसका उत्तर यह है कि यदि ईश्वर अपनी इच्छा से जीवों की नाना प्रकार की दशायें करता तो निःसन्देह निर्दय होता परन्तु ईश्वर तो कर्मों के फल देता है जिससे यह भेद सङ्गत होता है। जब वह अपनी इच्छा से शरीर में कुछ भेद नहीं करता तो वह किस प्रकार पक्षपाती कहला सकता है? और न उसे निर्दय कह सकते हैं क्योंकि उसने न्याय किया है। अर्थात् जीव के कर्मों का फल दिया है। अर्थात् जैसा

जीव ने बोया है वैसा ही ईश्वर ने फल दिया है। इस दशा में उस पर पक्षपात और निर्दयता का कलङ्क लगाना प्रत्यक्ष अज्ञान है।

वादी कहता है कि यदि कर्मों के फल से यह भेद है तो ईश्वर के होने की कोई आवश्कता नहीं क्योंकि कर्म स्वयं ही फल देते हैं। वादी की यह शङ्का भी सर्वथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि निर्बल सबल को बाँध न ही सकता, और न ही कोई अचेतन वस्तु चेतन को बाँध सकती है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कर्म चेतन है या जड़ ? दूसरे वह जीव से निर्बल है वा प्रबल ! यह तो सिद्धान्तीय बात है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण से निर्बल होता है और यह भी सिद्धान्त है कि कर्म चेतन नहीं किन्तु जड़ है और न ही कोई उत्पन्न होने वाली वस्तु चेतन हो सकती है। इस दशा में कर्म स्वभावतः फल देते हैं अर्थात् कर्त्ता चेतन को (जो कि क्रियावान् तथा प्रबल है) बांध लेते हैं, किस प्रकार सत्य हो सकता है ? क्या किसी मनुष्य ने कभी देखा है कि किसी चोर ने चोरी की और चोरी ने ही उस चोर को कारागार में डाल दिया? इस कारण यह सर्वथा असत्य है, क्योंकि समयानुसार शासक (हाकिम) चोरों के लिये कारागार बनाते हैं और वे ही दण्ड देते हुए दिखाई देते हैं।

इस अवसर पर वादी यह कहता है कि जो मनुष्य मद्य पीता है वह अपने इस कर्म से मूर्छित हो जाता है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मद्यपान रूप अपने कर्म ने ही यह फल दिया। परन्तु वादी का यह कथन भी उसकी निर्बुद्धि का प्रमाण है, क्योंकि मद्य जो कि एक द्रव्य है उसने मन पर परदा डाला है जिससे विदित होता है इसलिए कि मन सूक्ष्म है और मद्य स्थूल है, सूक्ष्म पर स्थूल का परदा पड़ जाना प्रत्यक्ष के अनुकूल है जो देखने में भी आता है निर्बल कर्म अपने करने वालों को कदापि नहीं बाँध सकता, कर्म का फल देने

वाला परमेश्वर है वह ही फल देता है जो संसार में व्यवहार से प्रतिक्षण ज्ञात होता है उससे सम्यक्तया ईश्वर का होना सिद्ध है और मानसिक प्रत्यक्ष से भी ईश्वर जाना जाता है। जैसा कि उपनिषद् में लिखा है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।

कठोपनिषद् ४।११

यह परमात्मा योगी के मन से ही जाना जाता है इस जीवात्मा के अन्तर्गत परमात्मा के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा में केवल परमेश्वर ही है क्योंकि यह नियम है कि स्थूल के अन्दर सूक्ष्म रह सकता है परन्तु सूक्ष्म में स्थूल नहीं रह सकता। वादी यहां पर पुनः शंका करता है कि सूक्ष्म आकाश में स्थूल नहीं रह सकता। परन्तु वादी यहां पर पुनः शंका करता है कि सूक्ष्म आकाश में स्थूल मृत्तिका और जल आदि रहते हैं। इस कारण जो ऊपर कह चुके हैं कि "सूक्ष्म में स्थूल नहीं रह सकता" ठीक नहीं। परन्तु वादी का यह विचार आशय को न समझने के कारण है क्योंकि आधार दो प्रकार से होता है। एक व्याप्य-व्यापक के सम्बन्ध से दूसरा आधार और आधेय सम्बन्ध से। हमारा प्रयोजन व्याप्य और व्यापक के सम्बन्ध से था। वादी का दृष्टान्त आधार और आधेय के सम्बन्ध से है इसलिए प्रत्यक्ष ही मिथ्या है। और शब्द प्रमाण से भी ईश्वर का ज्ञान होता है जबकि इतने प्रमाण ईश्वर के होने में विद्यमान हैं तब यह कहना कि ईश्वर के होने में कोई प्रमाण नहीं, कैसे ठीक हो सकता है?

अब प्रश्न यह उठता है कि "यदि ईश्वर का होना मान भी लिया जावे तो उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि प्राप्त वह वस्तु होती है जो कि पहिले दूर हो। अब

सोचना चाहिये कि ईश्वर हम से दूर है वा नहीं। यदि कहो दूर है तो उस की प्राप्ति हो सकती है वा नहीं ? यदि दूर ही नहीं तो प्राप्ति का क्या तात्पर्य है ? जहां तक देखा गया है दूरी ३ प्रकार की होती है। (१) देश की दूरी, (२) काल की दूरी, (३) ज्ञान की दूरी। ईश्वर सर्वव्यापक है इसलिए किसी वस्तु से भी देश [स्थान] की दूरी नहीं। वह नित्य है इसलिए काल की दूरी भी नहीं हो सकती। इसलिए कि "जीवात्मा उसे जानता नहीं" ज्ञान की ही दूरी हो सकती है। बस ज्ञान की दूरी ईश्वर को जानने से ही दूर होगी। इसी का नाम "ईश्वर प्राप्ति" है। इस पर वादी कहता है कि ईश्वर को जानना तो किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं क्योंकि उपनिषदों में लिखा है कि:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्य देवतद्विदितादथो अविदितादधि। इत्यादि

(केनोपनिषद्)

अर्थ—उस परमात्मा तक आंख नहीं जाती अर्थात् उसे आंख नहीं देख सकती क्योंकि वह रूप नहीं, और न ही वाणी उसे कह सकती है क्योंकि उस के गुणों की अवधि नहीं और न ही ये इन्द्रियें जान सकती हैं क्योंकि ब्रह्म को अन्दर माना है और इन्द्रियें बाहर देखती हैं। इस कारण ब्रह्म इस प्रकार का है ऐसा जानना सम्भव ही नहीं। किन्तु वह जाने हुए और न जाने हुए से भी पृथक् है॥

इसका उत्तर यह है कि उपनिषदों में यह भी लिखा है कि:—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

कठोपनिषद् ४।११

अर्थ—मन से ही यह ब्रह्म जाना जाता। है इस आत्मा के अन्दर केवल ब्रह्म ही रहता है दूसरा कोई नहीं, वह बार-बार जन्म-मरण के दुःखों को प्राप्त होता है, जो आत्मा (जीव) के अन्दर नाना वस्तुओं को देखता (समझता) है।

इस कथन पर प्रश्न उठता है कि एक स्थान पर तो उपनिषदों ने लिखा है कि वह परमात्मा मन से नहीं जाना जाता और दूसरे स्थान पर यह लिखा है कि वह मन ही से जाना जाता है, यह दोनों विरुद्ध बातें कैसे सत्य हो सकती हैं ? इस से तो उपनिषदों का अप्रमाण होना सिद्ध होता है क्योंकि महात्मा गौतम जी ने न्याय दर्शन के शब्द-परीक्षा प्रकरण में कहा है कि :—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः

न्याय० २ आ० १ सू० ५६ ॥

अर्थ—जिस शब्द में तीन प्रकार के दोषों में से कोई भी दोष पाया जावे वह शब्द अप्रमाण होता है। वे तीन प्रकार के दोष ये हैं कि—१ ला अनृत २रा व्याधाघात, ३रा पुनरुक्ति। जब उपनिषदों में व्याघात दोष हैं तो वे अप्रमाण होंगी ? इसका उत्तर यह है कि इस स्थल में व्याधात दोष नहीं किन्तु मन की दो दशाओं के होने का प्रमाण दिया है अर्थात् जब मन मलिन होता है तब उस मन में और दूसरे इन्द्रियों से परमात्मा को जान लेना असम्भव है। परन्तु जब मन शुद्ध हो जाता है तो उससे जीव और परमात्मा का दर्शन हो सकता है और दूसरे यह बात है कि मन से परमात्मा नहीं जाना जाता किन्तु जैसे शुद्ध दर्पण से नेत्र अपने अन्तर्गत सुरमे और अपनी दशा को देखते हैं, ऐसे ही जब मन शुद्ध हो जाता है तो उससे जीवात्मा अपने स्वरूप और अपने अन्तर्व्यापक [परमात्मा] के स्वरूप को जानता है।

जब तक मन शुद्ध न हो तब तक उस से ब्रह्म का आनन्द उपलब्ध नहीं होता जैसे सूर्य का आभास समस्त पृथिवी मात्र पर पड़ता है परन्तु शुद्ध जल वा शुद्ध दर्पणादि के अतिरिक्त सर्वत्र नहीं दीखता। ऐसे ही यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है परन्तु मन के मलिन होने से प्रतीत नहीं होता, ब्रह्म को जानने के लिए मनुष्य जो मन की शुद्धि के विना ही परिश्रम करते हैं उनका परिश्रम निष्फल जाता है और वे मनुष्य ब्रह्म के स्वरूप (भाव) से विरुद्ध हो जाते। हैं जैसे किसी मनुष्य के नेत्र में सुरमा है अब उसे प्रतीत नहीं होता वह जब दूसरे मनुष्य से सुनता है कि नेत्रों का अञ्जन दर्पण से प्रतीत होता है तब वह दर्पण लेकर देखने लगता है तो दर्पण के मलिन होने से उसे प्रतीत नहीं होता तो वह उस मनुष्य को (जिसने बतलाया था कि दर्पण से अंज़न प्रतीत होगा) झूठा समझता है। यह उसकी मूर्खता है क्योंकि शुद्ध दर्पण में प्रतीत होता है मलिन में नहीं, इसलिये जब तक मन की मलिनता दूर न हो तब तक ईश्वर का दर्शन कैसे हो सकता है ?

अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि "मन में मलिनता क्या है?" इसका उत्तर यह है कि दूसरों को हानि पहुंचाने का विचार(चिन्तन) ही मलिनता है। यदि विचार किया जावे तो सम्प्रति प्रत्येक मनुष्य इसी चिन्ता में है कि कोई नेत्रों का अन्धा और गांठ का पूरा मिल जावे। यदि दुकानदारों की ओर जावें तो यही उनकी जिह्वा में है कि 'हे शिवजी महाराज ! कोई नेत्रों का अन्धा और गांठ का पूरा भेज, प्राड्विवाक (वकील) लोग भी फौजदारी के संकट में फंसे हुए निर्बुद्धि धनी की आशा करते हैं। वैद्य (डाक्टर) जन भी ऐसे ही रोगियों के अन्वेषक (मुतलाशी) हैं, घूंसग्राही अहल्कार तो यह चाहते ही हैं। तात्पर्य यह है जिस को देखो इसी चिन्ता में लगा हुआ है। ऐसे ही मन में मैल रखने वाला ईश्वर के भाव (हस्ती) से इन्कार करता है।

अब प्रश्न होता है कि हम कैसे जानें कि मन अब शुद्ध हो गया। जब इसका उत्तर यह है कि जब निष्काम कर्म करने से तीन प्रकार की ऐषणा दूर होजावें अर्थात् लोकैषणा ! (प्रतिष्ठादि की इच्छा), पुत्रैषणा (पुत्रादि सन्तान की इच्छा), वित्तैषणा (धन की इच्छा); तब समझ लेना चाहिए कि अब मन शुद्ध हो गया। वादी कहता है कि ऐसे अनेक जन संसार में वर्तमान हैं कि जो दूसरों का निष्काम उपकार करते हैं और उनको यह ऐषणा भी नहीं परन्तु ईश्वर उनको भी नहीं प्रतीत होता।

इसका उत्तर यह है कि जैसे दर्पण के मलिन होने से उस में नेत्र और तद्गत अञ्जन प्रतीत नहीं होता इसी कारण दर्पण के हिलते हुए होने से भी आभास प्रतीत नहीं होता। बस जहां मन के मलिन होने से जीव और ईश्वर का ज्ञान नहीं होता वहां मन के चञ्चल होने से भी परमात्मा का ज्ञान नहीं होता; जैसे हिलते हुए दर्पण को आंख और अञ्जन को देखने के लिए ठहराना आवश्यक है ऐसे ही जीव और ईश्वर के जानने के लिए मन की चञ्चलता को दूर करना आवश्यक है। जिसका प्रतिकार केवल उपासनाकाण्ड है।

योग के आठ अङ्ग हैं। १ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा. ७ ध्यान, ८ समाधि।

प्रश्न—यम किसे कहते हैं ?

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः।

योगदर्शन २।३२

उत्तर—अहिंसा अर्थात् किसी को न मारना और किसी प्रकार का दुःख न देना। सत्यभाषण अर्थात् अपने ज्ञान के विरुद्ध न कहना। चोरी का त्याग अर्थात् किसी का स्वत्व (अधिकार) लेने का प्रयत्न न करना। ब्रह्मचारी रह कर अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके वैदिक शिक्षा का लाभ करना। हठ, आग्रह और पक्ष-पात से पृथक् (रहित) होना, ये पांच यम कहलाते हैं।

प्रश्न—नियम किसे कहते हैं ?

उत्तर—शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

योगदर्शन ३।२२।

———

ईश्वर प्राप्ति

(३)

(१) प्रथम—शौच (शुद्धि) चार प्रकार की होती है जैसा कि मनुजी ने लिखा है —

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।।

मनु० ५। १०९

अर्थात्—जल से शरीर के अङ्ग शुद्ध होते हैं स्नान आदि समस्त वाह्य शुद्धि के हेतु हैं। मन 'सत्येन' अर्थात् सत्य भाषण, सत्यकर्म करने, एवं सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की आज्ञा पालन से शुद्ध होता है। विद्या और तप से जीवात्मा शुद्ध होता है तथा बुद्धि अर्थात् जीवात्मा का ज्ञान वेद से शुद्ध होता है।

(२) द्वितीय—सन्तोष अर्थात् जो कुछ भोगवश प्राप्त हो उसी से प्रसन्न रहना। अधिक प्राप्त करने की इच्छा न करना।

(३) तृतीय—तप अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोकने में जो कष्ट होता है, अथवा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि का दुःख धर्म सम्बन्धी कृत्य करने में सहना पड़ता है उसे सहन करना, किसी समय में भी चित्त को इन्द्रियों के (विषयों के) आधीन न होने देना ।

(४) स्वाध्याय—नियमपूर्वक वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन किसी

दिन को पढ़ने से शून्य न जाने देना, वेद-वेदाङ्गों और उपाङ्गों के अतिरिक्त दूसरी शिक्षा का नाम स्वाध्याय नहीं।

(५) ईश्वर पर पूर्ण विश्वासी होकर यह निश्चय रखना कि जो कुछ ईश्वर करता है वह अच्छा ही करता है, जो किया अच्छा ही किया, जो करेगा अच्छा ही करेगा। क्योंकि ईश्वर दया और न्याय के अतिरिक्त कुछ नहीं करता और दया न्याय तथा दोनों अच्छे हैं। बुरा कोई भी नहीं। यद्यपि पापी को न्याय बुरा प्रतीत होता है, जो वास्तव में तो बहुत ही उत्तम है। इस पर एक गाथा है कि:—

एक राजा के मन्त्री के चित्त में दृढ विश्वास हो गया कि ईश्वर जो कुछ करता है, किया है, करेगा, सब अच्छा ही करता, किया और करेगा। एक दिन आखेट (शिकार) के समय राजा की दो अंगुलियें कट गई। मन्त्री भी सङ्ग में था, उसने कहा कि जो कुछ ईश्वर ने किया उसमें कुछ लाभ ही होगा। मन्त्री का यह कथन महाराज को बहुत बुरा लगा, उसने मन्त्री को निकाल दिया। जिस समय मन्त्री के समीप निकल जाने की आज्ञा पहुंची, तब उसने अति प्रसन्नतापूर्वक कहा कि ईश्वर जो कुछ करता है उस में कोई लाभ ही होगा।

जब महाराज ने इस कथन को सुना तो चित्त में विचारा कि वास्तव में मन्त्री की बुद्धि बिगड़ गई क्योंकि उसे प्रत्येक हानि-मात्र लाभ प्रतीत होता है।

निकल जाने से पूर्व तो मन्त्री नित्य महाराज के सङ्ग रहा करता था। अब महाराज एकाकी (अकेले) मृगयार्थ गये, घोड़ी के वेग तथा आंधी आदि के कारण एक ही वार अपने राज्य से निकल कर किसी अन्य राजा के राज्य में जा पहुंचे। वहां का राजा चिरकाल से रोगी था। उसको कहा गया कि देवी की भेंट के लिए एक मनुष्य

का बलिदान दो। राजा ने यह आज्ञा (हुकुम) दे रक्खी थी कि प्रातः-काल को जो मनुष्य अमुक द्वार (दर्वाजे) से आवे उसका बलिदान दे दो। दैवात् राजा निर्दिष्ट द्वार से ही पहुंचा। राजा के भृत्यवर्ग आज्ञा-नुसार उसे बलिदान करने को ले गए। राजा ने आत्मरक्षा के लिए अनेक उपाय किये परन्तु भृत्यों ने एक न सुनी। जिस समय राजा के वस्त्र उतरवा कर स्नान कराना चाहा त्यों ही उसकी दो अंगुलियें कटी हुई मिलीं, पुजारियों ने कहा कि अङ्गभङ्ग की बलि देवी को नहीं चढ़ सकती। तब महाराज को भृत्यों ने छोड़ दिया।

महाराज ने मन में विचार विया कि उन उंगलियों का कटना ही शरीर-रक्षा का कारण हुआ, नहीं तो आज कोई बेचने की आशा नहीं थी वास्तव में मन्त्री ने ठीक ही कहा था कि—

"ईश्वर जो कुछ करता है वह अच्छा ही करता है।"

जब राजा लौट कर अपने स्थान पर पहुंचा तो मन्त्री को बुला कर पुनः नौकर कर लिया, मन्त्री ने पुनरपि वे ही वाक्य कहे कि "ईश्वर जो कुछ करता है वह अच्छा ही करता है।" राजा ने मन्त्री से कहा कि हमारी जो दो अंगुलियां कट गई थीं उनका प्रयोजन तो हमने समझ लिया परन्तु तुम्हारे निकल जाने में जो प्रयोजन था वह नहीं समझा। मन्त्री ने कहा कि यह तो सुगम बात है कि यदि मैं निकल न जाता तो अवश्य आपके संग होता, आप तो अंग-भंग हो जाने के कारण बच जाते परन्तु मेरा बलि दान हो जाता, अतः ईश्वर ने मुझे सुरक्षित किया।

बस उपर्युक्त पांच नियम हैं।

प्रश्न—आसन क्या हैं ?

उत्तर—स्थिरसुखयासनम्॥

योगदर्शन २।४६॥

अर्थात् जिससे सुख पूर्वक प्राणायामादि कर सकें वही आसन

है, कितने ही आचार्य कमलासन, पद्मासन आदि चौरासी प्रकार के आसन बतलाते हैं, कितने ही इनसे भी अधिक कहते हैं। तात्पर्य इसका यह है कि निर्विघ्न काम जिससे हो सके वही आसन है।

प्रश्न—प्राणायाम किसे कहते हैं ?

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः

योगदर्शन २। ४९॥

अर्थात् आसन पर बैठ कर अन्दर आने वाले श्वास और बाहर जाने वाले श्वास की जो स्वाभाविक गति है उसे दूर करके स्वेच्छा के अनुकूल कर लेने का नाम प्राणायाम है। बाहर की ओर श्वास को निकाल कर कुछ देर तक अन्दर न जाने देना बाहर ही रोकना, अन्दर रोकना, एक ही वार छोड़ देना। इत्यादि

प्र०—प्राणायाम का क्या फय है ?

उत्तर-दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथाललाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

मनु० ६।७१

अर्थात् जैसे अग्नि में फूंकनी आदि से तपाने से सुवर्णादि धातुओं के निःशेष मल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही प्राणों का निग्रह (प्राणायाम से अपने वश में करने) से इन्द्रियों के सब दोष भस्म हो जाते हैं। इसके अनन्तर—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

योग दर्शन २। २८

जो मनुष्य योग के अङ्ग प्राणायामादि को करते रहते हैं उन मनुष्यों की जब तक मोक्ष न हो तब तक अन्तःकरण की मलिनता का क्षय, और ज्ञान का प्रकाश रात-दिन निरन्तर होता

रहता है। इन्द्रियों के दोष नष्ट होने से ज्ञानोत्पत्ति इसलिए कही है कि इन्द्रियों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है जैसा कि महर्षि कणाद ने भी अपने वैशेषिक दर्शन में कहा है कि—

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या ।

वै० अ० ९। २। ११

अर्थात् इन्द्रियों के दोष से तथा संस्कारों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है जब इन्द्रियों के दोष प्राणायाम से मनु जी के कथनानुसार भस्म हो जायेंगे तब ज्ञान की वृद्धि होगी। तथा जो मनुष्य प्राणों को अनियम से व्यतीत करते हैं वे थोड़े ही काल में मर जाते हैं क्योंकि शास्त्रों में प्राणों को ही आयु माना है जैसा कि लिखा है—

प्राणो वै भूतानामायुः ।

अर्थात् प्राण ही प्राणियों की आयु है। और देखा भी है कि जब तक प्राण रहते हैं तभी तक मनुष्य जीवित रहता है, प्राणों के निकल जाने पर पुनः जीवित नहीं रहता है। जैसे इञ्जन में वाष्प (भाप) ही काम करती है यदि उस का नियन्ता [ड्राइवर] उस वाष्प को अनियम में चला कर काम लेता है तब कभी भी उस का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और न ही वाष्प के निकलने देने पर सिद्ध होता है। इसी प्रकार यदि इस शरीर का नियन्ता जीवात्मा प्राणों को अनियम में चला कर अपना मुख्य प्रयोजन सिद्ध करना चाहे तो भी कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—तुम तो आयु को नियत परिमाण मानते हो पुनः प्राणायामादि के करने से न बढ़ेगी। तथा प्राणायामादि के न करने से घटेगी नहीं, पुनः यह क्यों कहा कि प्राणायाम न करने से अल्पकाल में ही मर जाता है।

उत्तर—प्रियवर ! यह प्रश्न तुमने बहुत अच्छा किया। इस पर बहुतों को भ्रम है। इस का उत्तर यह है कि हम आयु को

जो वास्तव में उपनिषदों के अनुसार प्राण ही है, बढ़ने वाली तथा घटने वाली नहीं मानते किन्तु काल को घटने वाला तथा बढ़ने वाला मानते हैं "थोड़े काल में मर जाते हैं" यह कहा था न कि "थोड़ी ही आयु में मर जाता है"। इस से शङ्का आपकी पक्ष-पोषक नहीं है। इसका उदाहरण यह है कि—जैसे किसी मनुष्य को तीस सेर अन्न मासिक मिलता है। यदि वह मनुष्य आध सेर अन्न प्रतिदिन खाता है तो उसका १५ सेर अन्न अवशेष रहेगा अर्थात् वह आध सेर यदि प्रतिदिन खाता रहे तो दो मास पर्य्यन्त निर्वाह कर सकता है। यदि वही मनुष्य उस तीस सेर अन्न में से दो सेर प्रति दिन खाता रहे तो १५ ही दिवस निर्वाह कर सकता है अर्थात् १ मास भी व्यतीत नहीं कर सकता। यहां यह विचारणीय है कि उस मनुष्य का तीस सेर अन्न उतना ही रहता है अर्थात् यदि वह उक्त प्रकार से दो मास पर्य्यन्त निर्वाह कर लेता है तब क्या उसका अन्न तीस सेर से बढ़ जाता है ?

उत्तर—नहीं। प्रश्न—तो क्या जब वह उक्त प्रकार से १५ दिन ही निर्वाह करता है तो क्या उसका वह तीस सेर अन्न कुछ घट जाताहै ?

उत्तर—यह भी नहीं।

अभिप्राय यह है कि काल तो घटता-बढ़ता ही है। परन्तु अन्न उतना ही रहता है। बस इसी प्रकार जो मनुष्य प्राणों को नियमानुसार प्राणायामादि के द्वारा रोकता हुआ कम व्यय करता है वह मनुष्य अनियम प्राणों को व्यय करता है वह अल्प काल तक जीवित रहता है जो मनुष्य महान् हो अल्प काल तक जीने वाला हो वह उस से बढ़ कर अधिक काल तक जीवित रहता है परन्तु दोनों दशाओं में प्राण रूपी आयु उतनी ही रहती है इसलिए आयु को नियत मानने पर भी काल के अधिक अथवा न्यून हो जाने से हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आ सकता।

और दूसरा उत्तर इसका यह भी है कि बढ़ना एक और प्रकार

से भी होता है अर्थात् जो मनुष्य तत्वज्ञानी होता है उसकी आयु बढ़ जाती है और जो मिथ्याज्ञानी होता है उसकी घट जाती है। इसका उदाहरण यह है कि जैसे यदि एक मनुष्य बाजार में अन्नादि खरीदने जावे और वह बाजार के भाव को ठीक जानता है तो १) रु० के जितने अन्नादि भाव के अनुसार आते हैं उतने ही ले आता है। परन्तु जो मनुष्य अन्नादि के भाव को यथावत् नहीं जानता वह मनुष्य उसी १) रु० के अन्नादि को कम लेकर भी चला आता है। परन्तु दोनों दशाओं में मूल उतना ही रहता है। बस इसी प्रकार जो मनुष्य तत्वज्ञानी होता है वह अपनी आयु से ज्ञान के अनुसार सिद्धान्तों को ग्रहण करता है परन्तु जो मनुष्य मिथ्याज्ञानी होता है वह शास्त्रनिषिद्ध कर्म्मों को ग्रहण करके अपने जीवन को नष्ट भ्रष्ट कर लेता है परन्तु दोनों दशाओं में प्राण रूपी आयु उतनी ही रहती है। इत्यादि अनेक प्रकार हैं। इससे उपचार से आयु की भी वृद्धि मानी गई है। प्रयोजन यह है कि प्राणायामादि करने योग्य हैं।

अब हम प्रकरण पर आते हैं। प्राणायाम से आगे पञ्चमाङ्ग प्रत्याहार है अब हम प्रत्याहार को बतलाते हैं:—

प्रश्न—प्रत्याहार किसको कहते हैं ?

उत्तर—स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

योग दर्शन पाद २-५४

अर्थात् जब यम, नियम आसन, प्राणायाम रूप पूर्वाङ्गों के अनुष्ठान से मन अपने वश में हो जाता है। क्योंकि मन की गति प्राणों के अनुसार वैसे ही होती है। जब प्राण मनुष्य के वश में प्राणायामादि से हो जाते हैं अर्थात् मनुष्य के अनुकूल गति करते हैं तब प्राणों के अनुसारी होने से मन भी पुरुष के वश में हो जाता है

और मन को पुरुष के वश में होने के पश्चात् इन्द्रियाँ भी पुरुष के वश में हो जाती हैं क्योंकि इन्द्रियाँ मन के आधीन हैं मन जिस ओर इन्द्रियों को प्रवृत्त करता है उसी ओर इन्द्रियां चली जाती हैं इस बात का उपनिषदों में इस प्रकार विवरण किया है कि—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

कठोपनिषद् ३।।५७

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँऽस्तेषु गोचरान् ॥

कठोपनिषद् ३।५८

अर्थात् इस शरीर को रथ रूपी मान कर यह अलङ्कार घटाया है कि यह शरीर रूपी एक रथ है इस रथ का स्वामी कौन है ? इस शरीर रूपी रथ का स्वामी आत्मा है। इस रथ का नियन्ता सारथि अर्थात् नियमपूर्वक घोड़ों को हांकने वाला कौन है ? बुद्धि ही रथ का नियन्ता है। सारथि के हाथ में प्रग्रह (बागें) होती हैं जिन से वह नियम में रखता है। यहां मन जो है वह प्रग्रह रूप है। यदि प्रग्रह भी है तो वह हांकता किनको है अर्थात् घोड़े कौन हैं ? इन्द्रियां ही घोड़े हैं। इन्द्रियरूप घोड़ों के चलने का मार्ग कौन है ? इन्द्रियों के चलने का मार्ग विषय है, क्योंकि इन्द्रियें विषयों की ओर ही दौड़ती हैं।

अब यहाँ यह समझना चाहिए कि जो पुरुष बुद्धिमान् होता है वह अपनी बुद्धि को प्रथम सुधारता है क्योंकि जब तक रथ का नियन्ता हांकने वाला ही स्वयं ठीक नहीं होता तब तक घोड़े अभीष्ट स्थान पर कभी नहीं पहुंच सकते क्योंकि सारथि के निपुण होने से घोड़े भी अभीष्ट स्थान को पहुंच सकते हैं, एवमेव बुद्धि रूपी सारथि के सुधर जाने से ही मनरूपी प्रग्रह वश में रह सकती है अन्यथा नहीं। यही कारण है कि दुर्बुद्धि पुरुषों का मन वश में नहीं होता।

जब मनुष्य बुद्धि को यमादि से सुधार कर मन को निपुण सारथि प्रग्रह (बागों) को अपने वश में कर लेता है तब घोड़े भी स्वाधीन हो जाते हैं।

बस इसी प्रकार मन के वश में होने से इन्द्रियां रूपी घोड़ों का भी वश में होना समझ लेना चाहिये, और जब इन्द्रियां वश में हो जाती हैं तब मनुष्य अधर्म रूप मार्ग से हट कर धर्म मार्ग में चलता है। जहाँ पहले मन में द्रोहादि रहते थे उस मनुष्य के चित्त में दया आदि शुभ गुण वास करते हैं। ऐसे ही जहाँ वाणी में मिथ्या भाषण आदि निवास करते थे वहां उस मनुष्य की वाणी में सत्य भाषण आदि शुभ गुण रहते हैं। ऐसे ही जहाँ शरीर के कर आदि अङ्गों में हिंसा आदि रहते थे वहाँ दान आदि शुभ गुण रहते हैं इत्यादि जानना। हमारे बहुत से भ्राता यह कहेंगे कि अनेक मनुष्य यम नियमों के विना ही स्वतन्त्र रह सकते हैं पुनः यह इतना झगड़ा क्यों रक्खा कि जो अति दुस्तर है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रता चाहता है चाहे जो कुछ धर्म अधर्मादि करे, वह स्वतन्त्र है।

जो स्वतन्त्र है उसके मन आदि सब वश में हैं ही। पुनः क्यों यह क्लेश सहें ?

उत्तर—इसका उत्तर यह है कि बहुत सी वस्तुएं तो मन को लाभ पहुंचाती हैं जो कि प्रकृति की बनी हुई हैं और बहुत सी वस्तुएँ आत्मा को लाभदायक हैं बस जब यह आत्मा मन शरीर आदि को अपना समझता है तो यह मन के लाभ में ही अपना लाभ समझ कर प्राकृतिक पदार्थों की प्राप्ति करने में ही प्रवृत्त होता है अर्थात् मन के आधीन हो जाता है।

मन की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता और मन की अप्रसन्नता में ही अपनी अप्रसन्नता समझता है तब यह काम क्रोध लोभादि से परिपूर्ण हो जाता है, जब तक इन काम क्रोधादि का प्रतीकार (निवृत्ति) नहीं कर चुकता तब तक इनको शान्ति नहीं होती अर्थात् जीवात्मा का

अपने हितैषी एक सच्चिदानन्द ईश्वर से हित की आशा त्याग कर मन के हितकारी प्राकृतिक पदार्थों में आसक्त होना ही परतन्त्रता है। परतन्त्रता दुःख नाम से कथन की गई है कि:—

बाधनालक्षणं दुःखमिति ।

न्याय दर्शन १।१।२१

अर्थात् परतन्त्रता ही दुःख है। जो मनुष्य अपने मन को वश में नहीं करते वे अपनी इन्द्रिय शरीरादि को भी वश में नहीं कर सकते और जिनके वश में अपने शरीरादि नहीं होते वे अपने कुटुम्ब को भी वश में नहीं कर सकते जैसे दुर्बल वृद्ध पुरुष अपने पुत्र पुत्रादि को वश में नहीं कर सकते। जो अपने कुटुम्ब को भी वश में नहीं कर सकते वे अपने ग्राम, नगर, देशादिकों को कैसे वश में कर सकते हैं।

पुनः वे दूसरे देशों के मनुष्यों पर क्या शासन (हकूमत) करेंगे ? प्रयोजन यह है कि अपने मन का वश में होने का करना ही इन्द्रिय शरीरादि के वश में होने का कारण है। मनुष्य को उचित है कि मन को ईश्वर की ओर लगावे, जब मन ईश्वर की ओर लगेगा तब प्रकृति की ओर न जायगा क्योंकि मन में दो ज्ञान एक काल में नहीं होते। मन के प्रकृति से निवृत्त होने से इन्द्रियें भी विषयों से निवृत्त हो जायेंगी अर्थात् चिन्ता में लीन हो जायेंगी इसी का नाम प्रत्याहार है।

जब मन अपने वश में हो जाता है तब उसको वहीं स्थिर करके ईश्वर का ध्यान किया जाता है। उसके स्थिर करने का नाम धारणा है जैसा कि कहा है कि :—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

यो० द० पा० ३ । १

मन की चञ्चलता को छुड़ा कर एक देश में ईश्वर ध्यानार्थ उसे स्थिर करना धारणा कहाती है। यही धारणा योग का छठा अंग है। इसके अनन्तर ध्यान है।

प्रश्न—ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सब प्राकृतिक विषयों से पृथक् होकर एक निराकार सच्चिदानन्द की ओर मन को प्रवृत्त करना ध्यान है।

प्रश्न—वाह जी वाह ! क्या कभी निराकार का ध्यान हुआ करता है ? भला जिसकी कोई आकृति ही नहीं उसका ध्यान कैसा ? ध्यान तो सर्वथा साकार का ही हुआ करता है।

उत्तर—प्रथम तुम ध्यान किसको कहते हो ? यदि कहो कि ध्यान उसे कहते हैं कि जिस वस्तु को हमने देखा वा सुना है उसका स्मरण हो जाना ही ध्यान है तो यह तुम्हारा भ्रम है। देखिये महात्मा कपिल मुनि अपने सांख्य शास्त्र में क्या बतलाते हैं कि—

ध्यानं निर्विषयं मनः।

सांख्य दर्शन ॥६।२५

अर्थात् जब मन रूप, रस, गन्ध, शब्द, दुःख, सुखादि सम्पूर्ण विषयों से रहित हो जावे उस दशा का नाम ध्यान है। जब तक मन में विषय रहेंगे तब तक यह ध्यान ही नहीं कहला सकता। और जिसको तुम ध्यान कहते हो वह तो इन विषयों के अन्तर्गत ही है क्योंकि साकार पदार्थों में रूप रसादि के अतिरिक्त अन्य होता ही क्या है जिसका वह ध्यान करे ? और तुम जो यह कहो कि ईश्वर साकार है तो भी तुम्हारा भ्रम है क्योंकि तुम साकार के अर्थ से अनभिज्ञ हो क्योंकि साकार उसे कहते है कि :—

नियतावयवसमूहत्वमाकारत्वम् तद्वान् साकार इति ॥

अर्थात् नियत अवयवों के समूह को आकार कहते हैं, और जिस में नियत अवयवों का समूह हो उसे साकार कहते हैं अथवा मुफ़र्रद को निराकार और मुरक्कब को साकार समझना चाहये। प्रयोजन यह है कि यदि हम ईश्वर को साकार (मुरक्कब) मान लें तो ईश्वर सावयव और अनित्य हो जायगा, परन्तु ईश्वर को अनित्य मानना भी महामूर्खता ह, इससे ईश्वर को साकार मानना बड़ा अज्ञान है।

ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) की आवश्यकता

प्रिय पाठक गण ! जब हम संसार में मनुष्य की अवस्था को देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य की प्रत्येक इन्द्रिय दूसरे देवता की सहायता की आवश्यकता रखती दिखलाई देती है। जैसे कि मनुष्य की आंख विना सूर्य्य की सहायता के कुछ भी नहीं देख सकती। यद्यपि मनुष्य ने दीपक आदि प्रकाश के बहुत से पदार्थ बनाये हैं, परन्तु उनसे मनुष्य इतना काम नहीं ले सकता, जितना कि सूर्य्य से, और दीपक आदि में जो कुछ प्रकाश होता है, वह भी सूर्य्य की किरणों से उत्पन्न होता है, और सूर्य्य की किरणों के भाग को छोड़ कर शेष जितने तेल, बत्ती, दीपक इत्यादि हैं वह प्रकाश से नितान्त रहित हैं। जिससे विदित होता है कि आंख विना सूर्य्य की सहायता के निकम्मी है। यदि संसार में सूर्य्य न होता तो आंख का होना न होना बराबर था। परन्तु यदि आंख को न बनाया जाता तो सूर्य्य के प्रकाश से लाभ होना भी संभव न था। यद्यपि सूर्य्य की उष्णता से बहुत से कार्य्य निकलते हैं, परन्तु प्रकाश केवल आंख की सहायता का ही कार्य्य कर सकता है। अब दूसरे कान की ओर देख लीजिए। वह आकाश के विना नितान्त निकम्मा है। बहुधा देखा होगा कि मैदान में दूर तक का शब्द सुनाई नहीं देता। इसका कारण यह है कि शब्द आकाश में वायु के साथ गमन करता है, जहां आकाश न हो वहां वायु के न चलने से शब्द भी नहीं चल सकता। अब यदि संसार में आकाश न होता तो कानों का होना न होना बराबर था। इसी प्रकार त्वचा को देख लीजिए वह विना वायु के नितान्त निकम्मी हो जाती है। जब वायु चलती है तब उसके साथ उष्णता अथवा शीतलता के परमाणु भी होते हैं और वायु के साथ त्वचा को स्पर्श करते हैं। यदि वायु न हो तो उसके विना त्वचा का होना न होना

बराबर है, इसी प्रकार रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा को जल की आवश्यकता है। यदि जल न होता तो रसनेन्द्रिय को इसका ज्ञान होना असम्भव हो जाता। और नासिका को सुगन्धि और दुर्गन्धि के लिए पृथिवी की आवश्यकता है।

प्रिय पाठक गण उपरोक्त कथन से विदित हो गया कि मनुष्य की प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय विना सहायता के कार्य्य नहीं कर सकती। अब विचारना चाहिये कि क्या आन्तरिक इन्द्रिय विना सहायता के कार्य्य कर सकती है या नहीं? जहाँ तक विचार किया जा सकता है वहां तक विचार करने से विदित हुआ है कि बुद्धि को भी सहायता की आवश्यकता है, क्योंकि जिस प्रकार नेत्रों की दृष्टि स्थान और प्रकाश के अनुसार घटती बढ़ती रहती है। जैसे कि एक मनुष्य दीपक के प्रकाश में देखता है तो उसकी दृष्टि बहुत ही पास के पदार्थों को देखती है और वह उन की सूक्ष्म बातों को भी नहीं समझ सकता। परन्तु चन्द्रमा के प्रकाश में वह दीपक के प्रकाश की अपेक्षा विशेष दूर तक देख सकता है। और सूर्य्य के प्रकाश में बहुत से दूर-दूर के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। साथ की साथ स्थान तथा वस्तु की ऊँचाई निचाई के कारण दृष्टि में बहुत कुछ अन्तर हो जाता है। यही दशा बुद्धि की है। जिस प्रकार का प्रकाश अर्थात् विद्या प्राप्त होती है उसी प्रकार के संस्कार जम जाते हैं। कभी तो बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के अन्वेषण में लग जाती है और कभी स्थल से स्थूल वस्तु को भी अन्ध परम्परा अथवा अनुकरण की दृष्टि से मान लेती है। तनिक भी विवेचन शक्ति नहीं रहती। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश आंख को काम में सहायता देता है और उससे कुछ न कुछ किसी को हानि भी पहुंचती है, और दीपक के प्रकाश में बैठने वाले मनुष्य को सर्वदा वायु का भय लगा रहता है। यद्यपि वह अपने दीपक को वेग सहित वायु लगती देख कर तथा दीपक के प्रकाश को कांपता हुआ

मालूम करके अपने प्रकाश की निर्बलता को जान जाता है परन्तु जब वह अपने घर के बाहर की ओर दृष्टि डाल कर देखता है उस अवस्था में या तो उसे अँधेरा दिखाई पड़ता है या किसी और का भी दीपक जलता हुआ प्रतीत होता है। अन्धकार की दशा में तो वह अपने आपको सब से उत्तम मान लेता है और दीपक जलता हुआ देख कर यह विचार कर लेता है कि जैसी मेरी विचलित अवस्था है वही सारे संसार की होगी, इन दोनों अवस्थाओं में उसे सत्य की जिज्ञासा नहीं उत्पन्न होती। जब सत्य की जिज्ञासा ही नहीं तो सत्य का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, जब सत्य का ज्ञान न हुआ तो वह असत्य प्राप्त करने का आदी (अभ्यासी) हो जाता है।

प्रिय पाठकगण! दीपक के प्रकाश में यात्री अपनी यात्रा पूरी नहीं कर सकता, क्योंकि थोड़ी सी पवन लग जाने से दीपक का डर रहता है। तेल और बत्ती के बुझ जाने से दीपक बुझ सकता है। वर्षा और आंधी में तो दीपक ठहर ही नहीं सकता, ऐसी अवस्था में जिसकी यात्रा केवल दीपक के प्रकाश पर निर्भर हो, वह किस प्रकार शान्ति की मंजिल (मार्ग) को ओर निडर और निर्भय होकर चल सकता है। दूसरे दीपक का प्रकाश भी तो विना अग्नि के नहीं प्रकट हो सकता, और अग्नि सूर्य की किरणों से उत्पन्न होती है तो यों कहना चाहिए कि दीपक के प्रकाश का होना भी सूर्य्य के विना असम्भव है। सुतराम् यात्री के लिए जिस प्रकार सूर्य्य का प्रकाश आवश्यक है, इसी प्रकार सत्य के मार्ग पर चलने के लिए ज्ञान के सूर्य्य का होना आवश्यक है जब कि प्राकृतिक नियम ने प्रत्येक इन्द्रिय से पूर्व प्रत्येक इन्द्रिय का सहायक देवता उत्पन्न किया तो सर्वोत्तम तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के जानने योग्य औजार[यन्त्र]का कोई सहायक न बनाना यह वात मानने योग्य नहीं प्रतीत होती ? और न ही मानी जासकती है, और जिस प्रकार आंख के पश्चात् सूर्य्य नहीं उत्पन्न

होता, इसी प्रकार बुद्धि के पश्चात् ज्ञान का सूर्य्य भी नहीं उत्पन्न हो सकता इस कारण आवश्यक प्रतीत होता है कि ईश्वर द्वारा सूक्ष्म के सूक्ष्म पदार्थों के जताने के लिए कोई ज्ञान का सूर्य्य अवश्य बताया गया होगा नहीं तो परमेश्वर के पूर्ण ज्ञानी होने पर भूल का दोष लगता है।

प्रिय पाठक गण ! जिस प्रकार सूर्य्य सृष्टि के आदि से लेकर आज तक एक ही है, उसको बदलने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार ज्ञान के सूर्य्य का भी अपरिवर्तन होना आवश्यक है और जिस प्रकार मनुष्य कृत दीपक और लैम्प सर्वदा बदलते रहते हैं, परन्तु सूर्य्य नहीं बदलता, इसी प्रकार मनुष्यों का ज्ञान बदलता रहता है, ईश्वरीय ज्ञान सर्वदा एक सा रहता है। मानो प्रकृति हमें यह उपदेश करती है कि जिस प्रकार उसके बनाये हुए प्रत्येक इन्द्रिय के सहायक अटल हैं, न कभी आंख के लिए दूसरा सूर्य्य बनाने की आवश्यकता होती है न किसी अन्य इन्द्रिय के सहायक देवता के बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती है, फिर कैसे विचारा जा सकता है कि बुद्धि का सहायक सूर्य्य अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान बदलता रहता है; परिवर्तन सर्वदा न्यूनता को पूर्ण करने अथवा बुरे तत्त्वों [आशय] को निकाल कर अच्छे विषय का प्रवेश करने के लिए होता है। परन्तु ईश्वर के सर्वज्ञ हाने से न तो उसके ज्ञान में अपूर्णता ही मानी जा सकती है और न उसमें कोई बुराई ही स्वीकार की जा सकती है, अन्यथा उसके सर्वज्ञ होने पर दोष लगता है। जो अपूर्णता तथा भूल का ईश्वरीय ज्ञान में होना असम्भव है जैसा कि सूर्य्य में अन्धकार का, अतः ऐसी दशा में ईश्वरीय ज्ञान में परिवतन अनावश्यक है। हां यहां से पता मिल गया कि जहां परिवर्तन होता है वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं।

प्रिय पाठकगण ! जिस प्रकार दीपक में उस भाग को छोड़कर जो सूर्य्य से लिया गया है, शेष सम्पूर्ण भाग अर्थात् दीपक, तेल, बत्ती

सब के सब ·काश से रहित होते हैं इसी प्रकार मानुषी ज्ञान में जितना भाग कि ईश्वरीय ज्ञान का होता है वह प्रकाशमान अर्थात् सत्व होता है शेष जितनी बातें होती हैं वह ज्ञान से निरन्तर शून्य होती हैं, जिस प्रकार दीपक आदि का बनाना विना सूर्य्य के प्रकाश के असम्भव है इसी प्रकार मनुष्य कृत विद्या की उत्पत्ति भी विना ईश्वरीय ज्ञान के असम्भव है, क्योंकि प्रकाश के विना तो हममें मिट्टी लेकर दीपक बनाने की भी सामर्थ्य नहीं है, न सरसों से तेल ही निकाल कर इसमें डालने की शक्ति हो सकती है और न रुई उपजा कर बत्ती बनाई जा सकती है, न अग्नि में ही प्रकाश डाला जा सकता है। मानो जिस प्रकार दीपक का जलना आँख और सूर्य्य के होने पर सम्भव हो सकता है, इसी प्रकार मनुष्य कृत पुस्तकों का मिलना भी ईश्वरीय ज्ञान के पश्चात् सम्भव है, और जिस प्रकार अँधा सूर्य्य की सहायता पर भी दीपक जलाने में विना आँख फलीभूत नहीं हो सकता, इसी प्रकार बुद्धि रहित मनुष्य भी ईश्वरीय ज्ञान न होने से मनुष्य कृत पुस्तक के बनाने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है, और जैसे संसार में प्रत्येक (मार्ग) चलने में नेत्र और सूर्य्य दो आवश्यक वस्तुयें हैं ऐसे ही प्रत्येक आत्मिक पथ के यात्री के लिये बुद्धि एवं ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है। जो सूर्य्य की उपस्थिति में नेत्र मूंद कर चलता है वह भी ठोकर खाता है, तथा जो आँख खोलकर अन्धों में चलता है वह भी ठोकर खाता है इसी प्रकार जो मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान को मान कर बुद्धि से काम नहीं लेता वह भी उद्देश्य से गिर जाता है तथा जो मनुष्य बुद्धि के भरोसे पर ईश्वरीय विद्या की सहायता से काम नहीं लेता वह भी मुक्ति मार्ग से दूर जा गिरता है।

प्रिय पाठकगण ! जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और ·ीपक का प्रकाश जाँचने का साधन हमारे पास आँख है और आँख के विना हम सूर्य और दीपक के प्रकाश में भेद नहीं कर सकते, इसी प्रकार

ईश्वरीय ज्ञान और मनुष्य कृत विद्या में भेद करने का यंत्र प्रकृति ने हमको बुद्धि दी है। जिस प्रकार हमें दीपक के प्रकाश के अपूर्ण होने में और उसके भाग दीपक, बत्ती और तेल के प्रकाशमान न होने से और उसकी उत्पत्ति को सूर्य के अस्त होने के पश्चात् देखने से विदित होता है कि यह मनुष्य कृत प्रकाश है। दूसरे दीपक में सर्वदा वायु लगने का भय रहने से भी हम उसकी निर्बलता जान जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य कृत अनृत, व्याघात तथा परोक्ति से हमें विदित हो जाता है कि यह पुस्तकें मनुष्य कृत हैं। दूसरे मनुष्य कृत पुस्तकों के बनने का समय भी बतला दिया है। पुस्तकें अमुक समय और अमुक देश में बनी हैं। तीसरे जिन पुस्तकों में यह बतलाया जाता हो कि धर्म्म में बुद्धि का प्रवेश नहीं अथवा युक्ति देने से "काफ़िर" होने का उत्तर दिया गया हो, वह पुस्तकें स्पष्टतया अपने मनुष्य-कृत होने की साक्षी स्वयं दे रही हैं। क्योंकि सूर्य और दीपक में जिस प्रकार हम आँख से भेद करते हैं, इसी प्रकार मानुषी विद्या तथा ईश्वरीय विद्या में विवेचन करने का साधन केवल बुद्धि है। अब सोच लीजिये कि जो मनुष्य यह कहे कि हमारा ज्ञान सूर्य्य है परन्तु वह आँख से नहीं देखा जाता, जिस प्रकार यह मनुष्य धोखा देता है, क्योंकि हमारे पास तो और कोई यंत्र नहीं जिससे सूर्य को ठीक प्रकार से जानें, उसी प्रकार वह मनुष्य है कि जो अपनी धार्मिक पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान बतला कर यह कहता है कि धर्म्म में बुद्धि का प्रवेश नहीं। वह स्पष्टतया अपने धर्म्म की निर्बलता मानता है और दूसरों को धोखा देता है।

प्रिय पाठकवृन्द ! जो मनुष्य अपनी पुस्तक को ईश्वरीय बतला कर उसको युक्ति से पृथक् रखना चाहते हैं, वह वास्तव में हमसे यह कहते हैं कि हम सुवर्ण तो मोल लें परन्तु उसको कसौटी पर न रक्खें। जिस प्रकार सोना विना परीक्षा के क्या पता कि वह वास्तव में खरा सुवण है अथवा ताँबा मिश्रित है ? इसी प्रकार विना युक्ति के

यह कैसे पता चल सकता है कि यह पुस्तक सम्पूर्ण ईश्वरीय ज्ञान से भरपूर है अथवा इस में कुछ मनुष्य कृत है।

प्रिय सुहृदयगण ! धर्म्म में बुद्धि की सहायता के विना वास्तव में नेत्र मूँद कर चलने की सी बात है। जिस प्रकार आँख बन्द करके यात्रा करने में पग-पग पर ठोकरों के लगने का भय है, इसी प्रकार बुद्धि विना धर्म्म पर चलने की दशा है।

प्रिय पाठकगण ! हमारे बहुधा मित्र यह प्रश्न करेंगे कि क्यों तुम्हारी बुद्धि पूर्ण है कि जिससे तुम ईश्वरीय ज्ञान को परखना चाहते हो ! मैं उनसे पूछता हूं कि यदि तुम बुद्धि को अपूर्ण समझ कर उससे काम न लो तो बतलाओ कि तुम्हारे पास और कौनसी कसौटी है कि जिससे तुम ईश्वर और मनुष्य कृत विद्या में भेद कर सकोगे ? जो मनुष्य यह कहते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान के जांचने की आवश्यकता नहीं, उन्हीं महात्माओं ने संसार में रुधिर की नदियां बहा दी हैं, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के लिए जो कसौटी थी उसको छोड़ दिया। अब प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने मत की पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान से भरपूर कहने लगा, परन्तु यह न समझा कि जिस प्रकार संसार में एक ही सूर्य्य ईश्वरीय प्रकाश है शेष सारे दीपक इत्यादि मनुष्यकृत हैं। इसी प्रकार संसार में एक ही ईश्वरीयज्ञान की भी पुस्तक है शेष सब मनुष्यकृत हैं। जिस प्रकार सूर्य्य सृष्टि के आदि में सदैव उत्पन्न होता है, बीच में नहीं, इसी प्रकार ईश्वरीय पुस्तक भी सृष्टि के आदि में ही उतरती है, मध्य में नहीं। जिस प्रकार सूर्य्य में कोई भाग अन्धकार का नहीं वरन् वह सम्पूर्ण प्रकाश है इसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान में कोई भाग गल्प एवम् गाथाओं का नहीं वरन् सम्पूर्ण विद्या का है।

प्रिय पाठकगण ! उपरोक्त लेख से आप समझ गये होंगे कि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता संसार को केवल उस समय है जब

कि संसार में पदार्थ ज्ञान का क्रम विद्यमान न हो। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के विना शिक्षाक्रम चल नहीं सकता ? और यह भी याद रहे कि जिस ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है उसका पूर्ण होना भी आवश्यक है। जो वस्तु पूर्ण होती है उसका उस आवश्यकता के पूरे होने तक न बदलना भी आवश्यक है और ईश्वरीय ज्ञान जिस बुद्धि की सहायता के लिये बनाया गया है, उसके अनुसार होना भी आवश्यक है। और ईश्वरीय ज्ञान में जिन उपरोक्त बातों की विद्या का होना उसके पूर्ण होने का लक्षण है। क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तुएं तो इन्द्रियों से ज्ञात होती हैं, उसके लिये ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं। हां, उनके सूक्ष्म विचार के लिये, जो इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, थोड़ा सार वर्णन करना उनका भी आवश्यक है।

प्रिय पाठकगण ! उपरोक्त बातों से आपको ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता और उसके लक्षण विदित हो गये अर्थात् बुद्धि की सहायता के निमित्त ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है।

और ईश्वरीय ज्ञान सर्वदा बुद्धि का सहायक होना उचित है और जो बुद्धि के विरुद्ध है वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहला सकता और ईश्वरीय ज्ञान का प्रकट होना सृष्टि के आरम्भ में आवश्यक है, मध्य में नहीं। अन्यथा शिक्षाक्रम चल नहीं सकता और इसमें बहुत से आक्षेप भी होते हैं। प्रथम यह कि यदि ईश्वरीय ज्ञान का प्रकट होना सृष्टि के मध्य में ठहरे तो वह उस से प्रथम के मनुष्यों के लिए तो होगा ही नहीं। इसमें अन्याय पाया जाता है, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा मनुष्य परमात्मा की आज्ञा को जान कर तदनुकूल कार्य्य करने से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अब जिन मनुष्यों की मृत्यु के पश्चात् ईश्वरीय ज्ञान प्रकट हुआ उन दीनों की मुक्ति किस प्रकार हुई होगी ! यदि मानलें कि उनकी मुक्ति विना ईश्वरीय ज्ञान के ही हो गई तब तो ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता

ही नहीं। और यदि नहीं हुई तो अन्याय है। दूसरे परमेश्वर के नियम के नितान्त विरुद्ध है। क्योंकि प्रकृति ने पहले इन्द्रियों के सहायक उत्पन्न किये तत्पश्चात् इन्द्रियां। जब बाह्य इन्द्रियों के लिये प्रकृति का यह नियम दिखलाई देता है अवश्यमेव आन्तरिक शक्ति बुद्धिका सहायक भी उससे पूर्व होना चाहिए।

प्रिय पाठकगण! कुछ मित्र कहेंगे कि कदाचित् प्रकृति का यह भी नियम हो कि वह आन्तरिक बुद्धि का सहायक पीछे रचे! क्योंकि संसार में यह साधारण कहावत है कि "अल् अहतियाज अम् अल् ईजाद" (आवश्यकता आविष्कार की जननी है) परन्तु उन का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं और दूसरे यह कहावत तो मनुष्य की बुद्धि के लिए है। क्योंकि मनुष्य की बुद्ध परिमित है उसको आवश्यकता से पूर्व आवश्यकता का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण आवश्यकता के पीछे (आवश्यकता पड़ने पर) वह आविष्कार करता है। परन्तु सर्वज्ञ के लिये, जिसको कि संसार की आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान सर्वदा है इसका नियम आवश्यकता से पूर्व (आविष्कार) करना है।

प्रिय पाठकगण! ईश्वरीय ज्ञान में गल्प और गाथाओं का होना भी उसको मनुष्यकृत सिद्ध करता है। क्योंकि वह घटनाओं के पश्चात् संसार में लिखी गई है। उन घटनाओं से पूर्व उनका होना असम्भव है। सुतराम् जिस ईश्वरीय ज्ञान में गल्प और गाथायें मिलें, वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं, वरन् इतिहास हो सकता है। और ईश्वरीय ज्ञान में काट छांट कदापि नहीं होती क्योंकि काट छांट ज्ञान के अपूर्ण होने को सिद्ध करती है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है उसका ज्ञान पूर्ण है। अतः ज्ञान में न्यूनाधिकता कभी नहीं होती। और ईश्वरीय ज्ञान में परमात्मा के सम्पूर्ण गुणों का यथार्थ बतलाना भी आवश्यक है। जो ईश्वरीय ज्ञान परमेश्वर को परिमित और दूसरे की सहायता का आधीन बतावे, वह भी ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो

सकता ? जिसमें प्रत्येक कार्य के लिए भिन्न-भिन्न फरिश्तः और पैगम्बर (दूत)बताया गया हो वह केवल संसार के महाराजाओं की अवस्था को देख कर लिखा गया है क्योंकि पैगम्बर का अर्थ पैगाम (संदेशा) लाने वाले के हैं और संदेशा दूर से आया करता है और ईश्वर व मनुष्य में दूरी बताना ईश्वर को सीमाबद्ध करना है दूसरे एजेण्ट (प्रतिनिधि) भी बद्ध के ही होते हैं। सुतराम् ईश्वरीय ज्ञान में परमात्मा के पूर्ण और निर्दोष गुणों का होना आवश्यक है।

ईश्वर का भय

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १

अर्थ—यह जो सम्पूर्ण संसार दृष्टिगोचर हो रहा है अथवा जो भिन्न-भिन्न उसके अवयव दिखाई देते हैं यह सब ईश्वर के निवासस्थान हैं, और जो मनुष्य परमात्मा की आज्ञाओं को भूल जाते हैं वे सब दुःखों को भोगते हैं, इसलिए हे जीव ! तू किसी का धन लेने की इच्छा मत कर।

यह कैसा उत्तम उपदेश है कि जिसके समझने से मनुष्य सर्वदा पापों से बचकर सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है क्योंकि मनुष्य में डरने की स्वाभाविक टेव है। जब मनुष्य कोई पाप करने लगता है तो उस समय उसके चित्त में यह भय उत्पन्न होता है कि इस पाप करते हुए कोई देख न लेवे और इसी कारण वह सर्वदा पाप को छिपा कर करने का प्रयत्न करता है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं जिसके हृदय में पाप करते भय न उपजता हो, इसी भय के कारण

वह घर के भीतर जाकर, किवाड़ बन्द करके और द्वार पर अपने सहयोगियों को खड़ा करके पाप करता है, यदि मनुष्य को यह ज्ञान होता कि मैं पाप करके किसी प्रकार भी दण्डसे बच नहीं सकता तो वह कदापि पाप न करता, परन्तु मनुष्यों के हृदय में धार्मिक शिक्षा न होने के कारण परमात्मा की सत्ता एवं सवव्यापकता का ज्ञान तो हाता ही नहीं, वह केवल संसारी भय से बचने का प्रयत्न करते हैं, वर्त्तमान समय में सबसे प्रथम तो गवर्नमेंट का भय है जिसको वह इस प्रकार निवृत्त कर देते हैं, कि प्रथम तो इस बन्द घर में कोई देखता ही नहीं और यदि कोई मनुष्य देख भी ले और वह गवर्नमेंट का कर्मचारी हो तो उसे कुछ घूंस दे दी जायगी, इससे भी काम न चला तो झूठे साक्षी उपस्थित कर दिये जावेंगे जिनसे कि न्यायालय से अवश्यमेव छोड़ दिया जाऊंगा, यदि इसमें भी सफलता न हुई तो वकील (प्राड् विवाक) करके कानूनी कमजोरियों (नियम की त्रुटियां)से जीत जाऊंगा और यदि इन बातों से काम न चला तो न्यायाधीशों को पूरी घूंस देकर बच जाऊंगा, यह विचार हैं जिनके कारण मनुष्य गवर्नमेंट का भय होते हुए भी पाप करना नहीं छोड़ते। दूसरा भय जाति का है, वह तो आजकल जाता ही रहा, कारण यह कि जाति में ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े देखने में आवेंगे जो किसी न किसी पाप के अपराधी न हों, अब जब कोई मनुष्य किसी पापी को जाति (सभा) के समक्ष में उपस्थित करने लगता है तो यह विचार तुरन्त ही उसके मन में आ पहुंचता है कि वह भी मेरे दोष अवश्य प्रकट करेगा, सुतराम वह अपने विचार को छोड़ देता है। तीसरा भय लोकलाज का है सो इसका तो आजकल चिह्न भी नहीं दीखता। जब देश की यह दशा है तो पापों का बढ़ना आवश्यक ही है, और जब पाप अधिक होने लगे तो दुर्भिक्ष, प्लेग, भूकम्प, तथा लड़ाई झगड़े आपत्तियों का आना अत्यावश्य है, जिसकी रोक किसी

मनुष्य के हाथ में नहीं, न गवर्नमेंट इसको रोक सकती है और न जाति इसका कोई उपाय कर सकती है, ऐसी अवस्था में विना धार्मिक शिक्षा दिए मनुष्यों का पापों को छोड़ना बहुत ही कठिन है, क्योंकि प्राचीन काल में जब मनुष्य ईश्वर से डरते थे तो उस समय पाप संसार में बहुत ही थोड़ा दिखाई देता था, जब से वेदों को शिक्षा बन्द हो गई और जनता या तो नास्तिक हो गई जो ईश्वर को स्थानापन्न मानने लगी तो उस समय से मनुष्यों को ईश्वर का भय न रहा, वेदों की पवित्र शिक्षा के समय में पाप करना, अति दुष्कर जान पड़ता था, क्योंकि जब मनुष्य यह जानता है कि मेरे पापों का दण्ड देने वाला मेरे सम्मुख विद्यमान है, जिसको मैं किसी प्रकार की घूंस से प्रसन्न नहीं कर सकता। न झूठे साक्षियों से छुटकारा होगा, क्योंकि स्वयं देख रहा है साक्षी की कैसे मानेगा, न वकील से काम चलेगा, क्योंकि वह सर्वज्ञ है अतः किसी प्रकार धोखे में नहीं आ सकता और न उस के राज्य से भाग कर कहीं जा सकता है, वह तुरन्त पापों को भय कर के छोड़ देता है, परन्तु इतना ही नहीं, एक और भी बुराई है कि जो मनुष्य को साहस दिलाती है, और जिसके कारण वह पाप से नहीं बचता। वह जानता है कि जब पुलिस पकड़ने आएगी तो उसके मुकाबले में सफलता की भी आशा है, और बहुधा राजा, महाराजा, और नवाब आदिक तो अपने को पुलिस के भय से रहित समझते हैं, परन्तु जब मनुष्य को यह विश्वास हो जावे कि जिस शक्ति के हाथों में मेरे पापों का फल देना है वह इतनी बलशाली है कि संसार के बड़े से बड़े महाराजा लाखों सेना, हाथी घोड़े, खड्ग, भुशुण्डि, तोप और डिनामेट के गोले आदिक रखते हुए उसके वारेन्ट मौत (मृत्यु संदेश) को एक मिनट के लिए भी नहीं रोक सकते, क्योंकि यह समस्त अस्त्र, शस्त्रादि तो बाह्य आक्रमण के रोकने के निमित्त हैं, परन्तु पापों का दण्ड देने वाली शक्ति तो भीतर विद्यमान है, चाहे कितना ही बड़ा दुर्ग बना

लिया जाय, वह केवल बाह्य शक्तियों से बचने को लाभकारी होगा, आन्तरिक शक्ति से बचने के लिये निकम्मा है, चाहे जितने सहायक हों वह भी देहधारी नहीं बचा सकते हैं, चाहे जितने शस्त्रास्त्र हों वह भी देहधारी पर ही चलाये जा सकते हैं।

अब जिस शक्ति से पाप करके हम किसी प्रकार नहीं बच सकते और न कोई सांसारिक शक्ति उसको रोक सकती है, ऐसी शक्ति की अवज्ञा करना मानो अपने को दुःख के समुद्र में डुबोना है। मनुष्य सुख दुःख का कारण जान कर किसी काम को नहीं करता उसकी इच्छा सुख प्राप्त करने एवं दुःख से बचने की है अतः वह पाप को दुःख का कारण जानते हुए कभी नहीं कर सकता। यदि संसार में पाप से बचाने वाली कोई शक्ति है तो वह ईश्वर का भय है और वह भी जब कि उसका दृढ़ विश्वास हो जावे। यदि मनुष्य को यह विश्वास हो जावे कि ईश्वर संसार के प्रत्येक खण्ड में विद्यमान है मेरे भीतर भी है मैं किसी प्रकार उसकी दृष्टि से अपने पापों को नहीं छिपा सकता न ईश्वर के पुत्र (खुदा के बेटे) का कुःफारा मुझे पाप करने पर दण्ड से बचा सकता है और न मुहम्मद साहेब की शफ़ाअत (साक्षी) से पापों से बचना हो सकता है और न किसी प्रकार के छापे तिलक तथा भेष धारण करके पापों के फल से बच सकता हूं तो वह कभी पाप नहीं करेगा। यह जितने मतमतान्तर हैं यह सब पाप बढ़ाने के कारण हैं क्योंकि यह सब ईश्वर को सीमाबद्ध मानते हैं जिससे कि मनुष्य के हृदय में उसका भय तनिक भी नहीं रहता। कतिपय मनुष्य तो यह विचार लेते हैं कि पाप करके "तोबा" कर लेंगे, परमात्मा क्षमा कर देगा। जब तनिक "तोबा" करने से पाप क्षमा हो जावेंगे तो पापों से कोई क्यों बचेगा। किसी ने कहा कि पापों का भार मसीह उठाकर ले गया भला फिर ईसाई पाप से क्यों बचें। किसी ने समझा कि गंगा स्नान से मुक्ति होगी और सहस्रों जन्म के पाप छूट जावेंगे। अब बताइये वह क्यों पाप

से डरेगा। आज कल तो गंगा जाने के लिये दो तीन रुपये से अधिक की आवश्यकता नहीं। बस जब दो तीन रुपये में ही पाप छूटने लगे तो फिर धनी क्यों पाप से डरेंगे। इस प्रकार इन मतमतान्तर वालों ने ईश्वर को एकदेशी मान कर सांसारिक गवर्नमेंट की भांति पापों के हटाने में अशक्त बना दिया है। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि हम तो ईश्वर को एकदेशी नहीं मानते, परन्तु उनसे पूछें तो पैगम्बर (दूत) किस प्रकार हो सकते हैं जब कि तुम्हारा ईश्वर एकदेशी ही नहीं क्योंकि पैगम्बर का अर्थ पैगाम (संदेशा) लाने वाला है और पैगाम सर्वदा दूर से आया करता है और दूरी सर्वथा एकदेशी पदार्थों के बीच होती है। सुतराम्, पैगम्बर मानना ईश्वर को एकदेशी मान कर उसके भय से संसार को हटा उसे (संसार को) पापी बनाना है और जो मनुष्य कु:फारा से मोक्ष मानते हैं वह मानो घूंस देकर परमेश्वर के दण्ड से बचना चाहते हैं। इसी भांति जो लोग अवतार मानते हैं वह भी ईश्वर को एकदेशी मानते हैं नहीं तो वह पहिले किस शरीर में नहीं था, जहां उसने अवतार लिया। इसी प्रकार किसी ने उसको सातवें आसमान पर जा बैठाया और किसी ने चौथे आसमान पर उसका स्थान ठहराया। कोई वैकुण्ठ में बताने लगा और कोई क्षीर सागर में गोता खाने लगा। किसी ने गोलोक को उसका निवासस्थान बनाया और किसी ने कैलासवासी जा ठहराया। सारांश यह कि इन मतमतान्तरों के दीपकों ने अपने परिमित प्रकाश के कारण अपने प्रकाश के बाहर उसे न देख कर इतना ही बताया जिससे यह समय आ गया कि चारों ओर पापों का समुद्र वेग से बह रहा है। लोग एक आना के लिये झूठ बोलने के लिए तैयार हैं। अपनी ईश्वरभक्ति की जगह धन के लिए गँवा देते हैं। कतिपय मनुष्यों ने तो धन को परमेश्वर की मूर्ति भी बना दिया। भला उन्हों को वैराग्य किस प्रकार हो सकता है। वह समझते हैं कि यदि और किसी की सिफारिश न

सुनी जाएगी तो उसकी स्त्री जिसके संचय करने में हमारा समस्त जीवन व्यतीत हुआ है जिसकी भक्ति हमने धर्म कर्म और सत् असत् का विचार छोड़ कर की है और जिसके लिए हमने लाखों पाप किये हैं तथा सहस्रों मनुष्यों को धोखे दिये हैं उसकी सिफारिश करुणा कथन से तो अवश्य ही काम निकल आएगा। ऐसे विचारों ने मनुष्य जाति के मस्तिष्क को हानि पहुंचाई है, नहीं नहीं उनको मनुष्य से पशु बना दिया है क्योंकि पशु आगामी का विचार न करके केवल वर्तमान स्थिति के लिये ही प्रयत्न करता है इसी प्रकार वर्तमान समय के मनुष्य भविष्य के प्रबन्ध को जो धर्म के द्वारा हो सकता है छोड़ कर वर्तमान के प्रबन्ध में जिसे कि वे धन से पूर्ण हो जाने वाला समझते हैं, लग गये हैं। उनको यह ध्यान नहीं कि यह धन हमारे मरने पर हमारे संग नहीं जाएगा और इस बात का ध्यान हो भी तो क्यों ? क्योंकि मृत्यु तो आगे होगी और उन्होंने पशुओं से यह पाठ पढ़ लिया है कि आगामी की चिंता ही न करनी। केवल वर्तमान के लिये ही प्रबन्ध करना चाहिए। इसीलिए वह सम्पूर्ण देश का धन अपने अधिकार में लाना चाहते हैं।

यदि कोई ऐसा काम धर्मानुकूल करे तब तो कोई शिकायत का स्थान नहीं परन्तु यह तो अपने साथियों को हानि पहुंचाकर, उन को अपने अधिकार में लाकर उन्हीं को अपना दास बनाना चाहते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि प्राकृतिक नियमानुकूल मनुष्य इस बात में असमर्थ है। यह विना परोपकार किए अपना भला नहीं कर सकता क्योंकि परमात्मा ने मनुष्य के शरीर में भिन्न-भिन्न अवयव रख कर यह बताया है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का कोई भाग अपनी सहायता से आप ही लाभ नहीं उठा सकता जब तक कि अन्य अवयवों को उस में सम्मिलित न कर लेवे। उदाहरणार्थ मनुष्य की आँख देखने से कोई लाभ नहीं उठा सकती जब तक कि हाथ उस वस्तु को न उठा लें और पांव उस मार्ग पर न चलें जो

कि आंख ने हाथ और पांव को दिखाए हैं। आंख का कर्त्तव्य है कि वह पाँव को मार्ग दिखावे और हाथ को उठाने वाली वस्तु दिखावे। परन्तु हाथ भी उससे कोई लाभ नहीं उठा सकता जब तक कि वह उसे अपने पास न रक्खे, या तो देह पर मल ले या मुख में डाल दे और मुख भी उसे अपने पास रख कर अकेला उस से लाभ नहीं उठा सकता जब तक कि वह उसे पेट को न देवे। अब पेट उस के भाग करता है। यदि इन वस्तुओं में से जो कि उसके पास आई हैं कोई वस्तु खाने योग्य नहीं और इन आजाय-रईस को जिन्होंने कि वह पहुंचाई है समूल हानिकारक है तो वह तुरन्त ही वमन कर देता है और इस प्रकार इन अवयवों को बता देता है, जिस पदार्थ को तुम ने प्राप्त किया वह तुम्हारे लिए हितकर नहीं, तुम्हें उसकी प्राप्ति में धोखा हुआ। परन्तु यदि वह उन्हें उनके लिए लाभदायक समझता है तो उनमें से अशुद्ध भाग जो कि अवयवों के योग्य नहीं उसे मल स्थान के मार्ग से निकाल देता है और शेष को प्रत्येक अवयव के पास आवश्यकतानुसार भेज देता है। यदि यह अवयव स्वयं उस वस्तु से काम लेना चाहें तो प्रथम तो योग्य और अयोग्य का ही ज्ञान न होगा क्योंकि पहिली पहिचान भोजन की नरम और कठोर है। यदि भोजन नरम है तो पच जायगा परन्तु कठोर पदार्थ आँख के लिए लाभकारी नहीं अब उस पदार्थ को देखती तो सब से प्रथम आंख है परन्तु इस ज्ञान के न होने के कारण कि यह नरम है अथवा कठोर परीक्षार्थ हाथ को दे देती है। हाथ उसको नरम अथवा कठोर है यह देख लेता है परन्तु शरुय के रस का ज्ञान नहीं परन्तु भोजनों में इसका भी सम्बन्ध है अतः हाथ इस परीक्षा के निमित्त उसे मुख में रसना इन्द्रिय के पास भेज देता है। रसना यदि उसके रस बुरे देखती है तो तुरन्त ही छोड़ देती है और यदि रस उत्तम है तो हाथ नाक से गन्ध सम्बन्धी सहायता लेते हैं जो बताती है कि यह पदार्थ दुर्गन्ध से पूरित और खाने के योग्य नहीं

अथवा खाने योग्य है। जब यह सब अवयव अपनी शक्ति के अनुसार जांच कर लेते हैं तो मुख उस पदार्थ को पेट के पास भेज देता है। इनको वह शुद्ध करके बुरे भागों को निकाल देता है और उत्तम अंशों को प्रत्येक की आवश्यकतानुसार विभाजित कर देता है। अब पेट के अतिरिक्त अन्य किसी अवयव के पास इतनी अग्नि नहीं कि वह वस्तु को शुद्ध करके हानिकारक अंशों को निकाल कर शेष शुद्ध को सब को बाँट सके। अतः बांटने का कार्य पेट को दिया गया। किसी भी अवयव को विना किसी दूसरे की सहायता के भोजन पचाने की शक्ति नहीं दी गई, क्योंकि शरीर के किसी एक अवयव को भूल से भी कोई विषैला पदार्थ देह में पहुंच कर सम्पूर्ण शरीर को हानि पहुंचा सकता है। प्रत्येक को अपने ज्ञान के अनुसार उसके प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा कर अन्त में जो इकला हो उसे हिस्सा-रसदो (भोजन भाग) बांटने वाले को सौंपा जाना उचित समझा गया।

इस प्राकृतिक शिक्षा से विदित होता है कि यदि एक अवयव दूसरे अवयव से विरोध करके अपना काम छोड़ दे अथवा उससे भी जो फल प्राप्त हो उसे भी अपने पास रख ले तो परिणाम यह होगा कि वह अवयव अवश्य नाश हो जायगा क्योंकि उस वस्तु से जो भोजन उसे मिलता था सो न मिलेगा। प्रकृति बतला रही है कि जिस प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अवयव एक दूसरे के लिए काम कर रहे हैं इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के लिए काम करना चाहिए जिससे कि स्वयं उसका अस्तित्व बना रहे अन्यथा अपने लिए काम करने में तो अपने जीवन को बनाये रखना निरा असम्भव होगा। सारांश यह कि स्वार्थ का नाश ही उन्नति का पहिला भाग है। इस लिए नीतिकार ने कहा है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थ—यह मेरा और यह दूसरों का है ऐसा थोड़ी बुद्धि वालों का विचार है। बुद्धिमान् तो समस्त संसार को भी अपना कुटुम्ब समझते हैं। यावत् सम्पूर्ण जीवों को अपना न समझा जावे तावत् मनुष्य को उत्तम कर्म करने को शक्ति ही नहीं होती। कतिपय मनुष्य यह कहेंगे कि हमें अपनी जाति में दूसरी जाति से स्वत्व प्राप्त करने की जागृति उत्पन्न करनी चाहिए तथा उसकी सहायता करना उचित है परन्तु यह विचार प्राकृतिक नियम के नितान्त विरुद्ध है एवं नाश करने वाला है, क्योंकि हमारे शरीर में कई जातियां विद्यामान हैं, जैसे एक जाति तो ज्ञानेन्द्रियों की, दूसरी कर्मेन्द्रियों की और तीसरी नाड़ियों की। अब यदि ज्ञानेन्द्रियां यह विचार करलें कि हमें कर्मेन्द्रियों की सहायता न करनी चाहिए तो आंख हाथ को मार्ग न दिखाकर अपनी सजाति नाक, कान, रसना तथा त्वचा को मार्ग दिखावेगी और अपनी वस्तुओं की माहियत (आन्तरिक दशा) बतावेगी, जिसको कि इनमें से एक भी उठाने की शक्ति नहीं रखती। परिणाम यह होगा कि आंख न तो स्वयं भोजन प्राप्त कर सकेगी और न अपनी सजाति ज्ञानेन्द्रियों को भोजन मिलने देगी। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आंख का काम है कि कर्मेन्द्रिय हाथ और पांव की सहायता करे और हाथ पांव भी ज्ञानेन्द्रिय अर्थात् रसना को सौंप देवें। यह ऐसा उत्तम पाठ मिल रहा है कि कौमी ख्याल त्वचा (जाति का भाव) मनुष्य जाति के लिये हानिकारक है। यावत् मनुष्य प्रत्येक को अपना भाई समझ कर उसके स्वत्व छीनने से न हटेंगे और अपने हृदय में शत्रु-मित्र का भेद रखेंगे तावत् उन्नति का स्वप्न में भी दर्शन न होगा इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य बिना विचार जाति के प्राणीमात्र की सहायतार्थ प्रयत्न करे जिससे कि स्वयं उसका भी अस्तित्व बना रहे। यहां से एक और पाठ भी मिलता है कि यदि पेट अपने काम को भली भांति न करे और उस भोजन को दूसरों को बांटने की

जगह अपने ही पास इकट्ठा कर ले तो पेट में दर्द आरम्भ हो जाता है। तात्पर्य यह कि महान् क्लेश हो जाता है और यह क्यों ? उस समय जब कि प्राण वायु जो कि प्रत्येक को उसका भाग पहुंचाता है पेट की सहायता नहीं करता जिस प्रकार प्राण वायु शरीर के प्रत्येक अवयव में रह कर उनसे काम कराता है तथा पेट की सहायता करके उनको बलिष्ठ करने के लिये आहार पहुंचाता है इसी प्रकार संसार में धर्म हैं जो कि प्रत्येक मनुष्य से काम करना तथा उससे दूसरों की सहायता कराना चाहता है। जहां समाज में धन इकट्ठा करने का विचार उत्पन्न हो जाता है उसको कब्ज हो जाता है। तुरन्त ही उसके हाथ पांव ढीले हो जाते हैं, जिस प्रकार पेट में अधिक समय तक वस्तु के रहने से शरीर के अवयवों को हानि पहुंचती है इसी प्रकार समाज के धनी होने से प्रत्येक मनुष्य शिथिल हो जाता है और चाहता है कि वह स्वयं काम न करे क्योंकि जिस सोसाइटी (समाज) की सहायतार्थ वह काम करना चाहता था अब उस समाज ने धन एकत्रित करके अपनी आवश्यकताओं को काम पर नहीं निर्भर रक्खा वरन् मजमूआ (इकट्ठा करने) पर रक्खा है। अब जिस प्रकार पेट में (आहार के) इकट्ठा पड़े रहने से सिवाय हानि के किसी को लाभ नहीं होता इसी प्रकार समाज के पास अधिक धन रहने से उसके अङ्ग मनुष्यों में शिथिलता होकर अति हानि पहुंचती है और आपस में स्वार्थ फैल जाता है क्योंकि पहले मनुष्य-समाज से पाठ लेते थे अब समाज उनको एकत्रित करने का पाठ पढ़ाती है जो स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार हो नहीं सकता। इसलिए परमात्मा ने बताया कि तुम किसी का धन लेने की इच्छा न करो। जब हम किसी का धन न लेंगे तो हमें स्वयं अपने श्रम से पैदा करना होगा, जब समाज का प्रत्येक अङ्ग मुहसन (नेक) तथा अपने में धर्म रखने वाला होगा तो समाज भी इसी प्रकार का होगा, और जब समाज इस प्रकार का होगा तब

तो अवश्य ही संसार में सुख ही सुख दीखेगा। परन्तु मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक न माने तावत् प्राण अर्थात् धर्म रह नहीं सकता, अब जिस प्रकार प्राण वायु की सहायता अग्नि से होती है इसी प्रकार धर्म की सहायता परमात्मा से होती है, जहाँ अग्नि थोड़ी हुई तहां वायु बिगड़ना आरम्भ होता है इसी प्रकार जहां ईश्वर का विश्वास और उसके सर्वव्यापी होने का विचार दूर हो जावे वहां धर्म भी बिगड़ने लगता है और मनुष्य पाप से नहीं डरता है, जिसके लिए एक कथा कहता हूं :—

कथा—एक गुरु के दो शिष्य थे। एक तो ईश्वर को सर्वव्यापक मानता था और उसे विश्वास था कि वह पहाड़ की सर्वोच्च शिखा एवं अति अगाध समुद्र की सबसे नीची तह में भी विद्यमान है। कोई स्थान उससे शून्य नहीं। परन्तु दूसरा शिष्य इसके विरुद्ध था और ईश्वर को एकदेशी समझता था। उसको विश्वास था कि परमेश्वर प्रत्येक स्थान पर रहता है वरन् वह यह सोचता था कि ईश्वर प्रत्येक घर में नहीं रह सकता, क्योंकि बहुधा उनमें मैले हैं, भला कहीं उन में मेरा ईश्वर रह सकता है! वह नहीं जानता था कि परमात्मा सबको शुद्ध करते हैं उनको कोई अशुद्धि किसी स्थान वा वस्तु के कारण नहीं लग सकती। गुरु उसको समझाता पर वह न समझता वरन् साकारोपासना पर अभिमान किया करता। एक दिन गुरु ने कहा कि यावत् ईश्वर को सर्वव्यापक न माना जावे तावत् संसार से पाप दूर नहीं हो सकते और जब तक संसार में पाप रहेगा उस समय तक मनुष्यों को सुख नहीं प्राप्त हो सकता। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपने सुख के लिये ईश्वर को सर्वव्यापक मानना उचित है यह। सुनकर उस एकदेशी को उपासना करने वाले शिष्य ने कहा कि मैं कभी पाप नहीं कर सकता। गुरु ने दो चार दिन पीछे दोनों को एक-एक पशु दिया और कहा कि ऐसे स्थान पर मारना जहां कि कोई देखता न हो, एकदेशी ज्ञान वाला शिष्य यद्यपि

सुजन था परन्तु इस अविद्या के कारण उसमें सोचने की शक्ति बहुत ही न्यून थी। उसने एक कोठरी में जाकर किवाड़ बन्द करके तुरन्त उसे मार दिया। दूसरा शिष्य जहां कहीं गया प्रत्येक स्थान पर उसे ईश्वर दिखाई दिया। उसने विचारा कि गुरु की यह आज्ञा है कि जहां कोई न देखता हो वहां मारना; परन्तु ऐसा स्थान कोई नहीं। अतः इसको कहीं भी नहीं मार सकते, सार यह कि इन विचारों से एक शिष्य तो मार लाया और दूसरा जीता ही लौटा लाया। गुरु ने कहा क्यों भाई तुमने इसे कहां मारा, वहां कोई देखता तो न था? जब दूसरे से कहा कि तुमने मेरी आज्ञा का पालन क्यों नहीं किया और इसको क्यों नहीं मारा, तो शिष्यने यह उत्तर दियाकि "महाराज! आपकी आज्ञा थी कि जहां कोई न देखे वहां इसको मारना" परन्तु मुझे संसार में कोई स्थान ऐसा न दीखा कि जहां मैं इसे मारता अर्थात् जहां पर कोई न था वहां ईश्वर विद्यमान था।

————

जीवात्मा के अस्तित्व का प्रमाण

प्यारे पाठक गण! आज हम अपने अस्तित्व के प्रमाण अर्थात् जीवात्मा के अस्तित्त्व पर कुछ लिखना चाहते हैं। यह तो आपको विदित है कि इस समय संसार में दो प्रकार की सृष्टि ज्ञात होती है। एक जड़, दूसरी चेतन। ऐसा तो कोई मनुष्य ही नहीं जिसको चेतन के होने से इन्कार हो। केवल झगड़ा इस बात का है कि चेतन शक्ति जड़ तत्वों की संयोगशक्ति से उत्पन्न होती है या एक भिन्न शक्ति है। यदि हम मान लें कि यह शक्ति भिन्न तत्त्वों से उत्पन्न होती है तो उस समय यह प्रश्न होगा कि क्या यह शक्ति भिन्न तत्त्वों में से या संयोग से उत्पन्न होती है? यदि मान लें कि भिन्न तत्त्वों में

है, तो उस दशा में कोई वस्तु जड़ नहीं हो सकती, क्योंकि 'चेतन' तत्त्व का गुण हो गया। यदि यह कहा जावे कि मूल भूतों में तो यह शक्ति नहीं परन्तु संयोग से उत्पन्न होती है तो उस दशा में अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो सर्वांश में असम्भव तथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत् के भीतर "नास्ति से अस्ति" (न कुछ से कुछ) की उत्पत्ति अथवा जो शक्ति मूल भूत में वर्त्तमान न हो वह उसके संयोग से होती किसी ने नहीं देखी, इसलिये उसके होने में कोई प्रमाण नहीं। महात्मा कपिल जी भी सांख्य-शास्त्र में लिखते हैं—

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च

सांख्य ५। १२९

अर्थ—अलग-अलग भूतों में चेतनता नहीं देखते इसलिये उनके मिलाप से भी चेतनता उत्पन्न नहीं हो सकती और संयोग से चेतनता हो नहीं सकती।

महात्मा कपिल जी इस पर और प्रमाण देते हैं—

"अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात्।"

सांख्य ६।५

मैं मानता हूं कि इस प्रकार प्रत्येक समय अनुभव होने से आत्मा का होना तो अच्छी प्रकार से विदित होता है और उसके अनास्तित्व करने के लिये साधक प्रमाणों का अभाव विदित होता है, इसलिये आत्मा का होना सत्य है।

देहादि व्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्।

सांख्य ६-१

वह आत्मा शरीर से नितान्त भिन्न वस्तु है क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न धर्म वाले हैं, शरीर परिणामी है और आत्मा अपरिणामी है। यह अनुमान और शास्त्रों के प्रमाणों से भी सिद्ध है और आत्मा

का अपरिणामी होना तो सदैव जाने हुए विषय का ज्ञाता होने से विदित होता है। जिस प्रकार से आंख का विषय 'रूप' है और शब्द नहीं, इसी प्रकार पुरुष का विषय 'बुद्धि की वृत्ति को साक्षात् करना' है। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तु का सम्बन्ध होने पर भी वश नहीं होता।

"षष्ठी व्यपदेशादपि"।

सांख्य ३। ३

और इस जमीर (मन) से भो कि यह 'मेरा' शरीर है, और यह 'मेरी' बुद्धि है 'मेरा' मन कहीं गया हुआ था, विदित होता है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। क्योंकि ज़मीर अर्थात् मन के उभय होने पर व्यवस्था नहीं हो सकती, जैसे कोई नहीं कहता कि 'मैं मेरा' हूं।

न शिलापुत्रवद्धर्मि ग्राहक मान बाधात्॥

सांख्य ६।४

यदि मन को तुम शिलापुत्र की भांति लगाना चाहो तो नहीं लग सकता। ऐसे स्थलों पर धर्म के ग्रहण करने वाले प्रमाण के विरुद्ध होने से यह कथन मात्र है क्योंकि शिला में पुत्र और जनन-शक्ति नहीं तो उसके पुत्र का शरीर ही, कैसे हो सकता है ?

प्यारे पाठकगण ! महात्मा कपिल जी ने इस बात का प्रमाण दिया है कि यदि 'चेतन' तत्त्व का गुण है तो कभी सुषुप्ति और मरण का होना सिद्ध न होगा क्योंकि गुण अपने गुणी से भिन्न नहीं हो सकता और तुमने चेतन को तत्त्वों का गुण स्वीकार कर लिया, इसलिये वह तत्व में सदैव रहेगा, जब चेतन रहा तो मृत्यु कभी नहीं होगी। महात्मा गौतम जी ने भी बहुत सी युक्तियां दी हैं कि आत्मा है।

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्॥

न्याय दर्शन ३।१।१

जिस वस्तु को आँखों से देखा हो उसको स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचा से स्पर्श करके कहते हैं, कि जिसको मैंने आँखों से देखा था उसको त्वचा से स्पर्श किया, इससे विदित होता है कि इन्द्रियों के विषयों के मानने वाला जीवात्मा है, यदि न होता तो आँख ने रूप देखा और 'स्पर्श' स्पर्शेन्द्रिय ने किया, फिर किस प्रकार कहा जाता कि जिसको मैंने देखा उसको स्पर्श करता हूं।

न विषयव्यवस्थानात् ॥

न्याय० ३ । १ । २ ॥

इस सूत्र में पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं। क्योंकि विषय नियत हो चुके हैं, जैसे आँखों के होने से देखते हैं और न होने से नहीं देखते, कान के होने से सुनते हैं और कान के न होने से नहीं सुनते, रसना (जिह्वा) के होने से रस लेते और रसना के न होने से रस नहीं लेते, इसी प्रकार शेष इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। इस दशा में जब इन्द्रिय के ठीक और शुद्ध होने से विषय का ग्रहण होता है और नहीं होने से नहीं होता, फिर एक चेतन मानने की क्या आवश्यकता है? इस पूर्वपक्ष में दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं, प्रथम यह कि इन्द्रिय जो विषय का ज्ञान प्राप्त करती हैं क्या उनमें चेतनता है? या किसी चेतन की सहायता से ग्रहण करती हैं इसका उत्तर महात्मा गौतम जी देते हैं:—

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ।

न्याय ३।१।३

यदि एक इन्द्रिय सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करने वाली होती तो इस दशा में चेतन जीवात्मा की आवश्यकता न होती परन्तु जब एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियों के विषयों को अनुभव नहीं करती तो किस प्रकार एक के ज्ञान का दूसरे को बोध हो सकता है। इसलिये सम्पूर्ण विषयों के ग्रहण करने वाला जीवात्मा अवश्य है। इन्द्रियों का अपने

नियत विषय को छोड़कर दूसरे का काम न करना ही इसका प्रमाण है। 'स्मृति' इन्द्रिय का विषय है या आत्मा का ? यदि कहा जावे कि 'इन्द्रिय' का तो किस इन्द्रिय का ? इस पर महात्मा गौतम जी कहते हैं कि—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः

न्याय० ३।१।१४

स्मृति आत्मा का गुण है क्योंकि दूसरे के अनुभव का दूसरे को ज्ञान या स्मृति उत्पन्न नहीं होती है, और इन्द्रियों के चेतन मानने से बहुत से चेतन मानने पड़ेंगे जिससे विषय की व्यवस्था नहीं होगी। इस कारण एक ही चेतन है जो बहुतों को देखता है और वह देखने आदि का निमित्त इन्द्रियों से भिन्न है और वही पूर्व देखे हुए अर्थ का स्मरण करता है।

प्यारे पाठकगण ! बहुत से मनुष्य यहाँ पर यह प्रश्न करेंगे कि स्मृति मनका अर्थात् दिमाग (मस्तिष्क)का धर्म है, इस कारण जीव कोई नहीं, ऐसा ही पूर्व पक्ष इस सूत्र में किया गया है—

"नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ।"

न्याय १। ३। १६

देहादि से भिन्न कोई आत्मा नहीं, क्योंकि आत्मा के साधक मन में ही घट सकते हैं अर्थात् 'दर्शन स्पर्शन से एकार्थ का ग्रहण करना, इत्यादि जो आत्मा को ज्ञानी बतलाने वाली युक्तियाँ हैं उनका होना मन में ही सम्भव है, इसका उत्तर यह है कि यदि तुम्हारा मन भौतिक है तो उसमें ज्ञान का होना, और ज्ञान को भूतों का गुण सिद्ध करेगा; जिससे नींद और मृत्यु का होना असम्भव हो जावेगा। यदि अभौतिक है तो आत्मा का दूसरा नाम हो जायगा। क्योंकि शरीर भौतिक है और अभौतिक सदैव इससे भिन्न होगा।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ।

न्याय ३।१।१७

ज्ञान के साधन ज्ञाता के लिये होते हैं, आँखों से देखना, कान से सुनना, स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श करना। इस प्रकार सब विषयों के ज्ञान का साधन मन है यदि मन ही को ज्ञाता मान लो तो ज्ञाता का नाम आत्मा न सही, मन सही, इस दशा में केवल नाम का भेद होगा, मुख्य विषय में तो कुछ भेद न होगा।

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं :—

नियमश्च निरनुमानः ॥

३ । १ । १८

उत्तर—नियम भी अनुमान (युक्ति) शून्य है ॥

प्रतिवादी ने यह जो नियम किया है कि रूपादि के ग्रहण साधन चक्षुरादि इन्द्रिय तो हैं परन्तु सुख दुःख के अनुभव तथा मनन करने का कोई साधन नहीं है। यह नियम युक्तिशून्य है क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि रूपादि विषयों से सुख-दुःख पृथक् हैं, इसलिये उनके ज्ञान का साधन भी नेत्र आदि इन्द्रियों से भिन्न अवश्य कोई मानना पड़ेगा। जैसे आँख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, उसके लिये दूसरा इन्द्रिय घ्राण माना गया, इसी प्रकार चक्षु और घ्राण दोनों से रस ग्रहण नहीं होता, तब उसके लिये तीसरा इन्द्रिय रसना मानना ही पड़ा, ऐसे ही शेष इन्द्रियों के विषय में समझ लीजिये। इसी प्रकार आँख आदि इन्द्रियों से सुखादि का ग्रहण नहीं होता, अतः उनके ग्रहण करने के लिये भी कोई इन्द्रिय अवश्य मानना पड़ेगा और वह मन है जिसमें एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो नहीं सकती अर्थात् जब जिस इन्द्रिय के साथ उसका संयोग होता है तभी तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है और संयोग न होने पर इन्द्रिय के अविकल और समर्थ होने पर भी ज्ञान नहीं होता। इसलिये पूर्व आत्मसिद्धि के लिये जो हेतु दिये गये हैं, वे मन में कदापि नहीं घट सकते।

अब यह बात विचारणीय है कि देहादि संघात से भिन्न जो

आत्मा सिद्ध हुआ है, वह नित्य है अथवा अनित्य। विद्यमान वस्तु नित्य वा अनित्य भेद से दो ही प्रकार का होता है। आत्मा की सत्ता सिद्ध होने पर भी वह नित्य है अथवा अनित्य ? यह सन्देह अवशिष्ट रहता है। देह से पृथक् होने से पहिले तो आत्मा की स्थिति, जिन हेतुओं से उसे सिद्ध किया उन्हीं से सिद्ध हो गई। अब देह के नष्ट होने पर भी आत्मा विद्यमान रहता है, इस पक्ष को सिद्ध करते हैं :-

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबंधात् जातस्य हर्षभयशोक सम्प्रतिपत्तेः ॥

३।१।१९

उत्तर—पहिले अभ्यास की स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुए को हर्ष भय शोक की प्राप्ति होने से (आत्मा नित्य है)।

तत्काल जन्मा बालक (जिसने इस जन्म में हर्ष, भय और शोक आदि के हेतुओं का अनुभव नहीं किया है) हर्ष, भय और शोक आदि से युक्त देखा जाता है और वे हर्षादि पूर्व जन्म में अभ्यास की हुई स्मृति के अनुबन्ध से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि विना पूर्वाभ्यास के स्मृति का अनुबन्ध हो नहीं सकता और पूर्वाभ्यास विना पूर्वजन्म के नहीं हो सकता। अतएव इस से सिद्ध है कि यह आत्मा इस शरोर के नष्ट होने पर भी शेष रहता है, अन्यथा सद्योजात बालक में हर्षादि की प्रतिपत्ति असंभव है। इससे आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है।

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात् ।

न्याय ३।१।२२

मर कर जब प्राणी जन्म लेता है, तब उसी समय विना किसी की शिक्षा वा प्रेरणा के स्वयं दूध पीने लगता है, यह बात विना पूर्व-कृत भोजनाभ्यास के हो नहीं सकती, क्योंकि इस जन्म में तो अभी उसने भोजन का अभ्यास किया ही नहीं, फिर उसकी प्रवृत्ति उसमें क्योंकर हुई ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्षुधा से पीड़ित बालकादि

पूर्वकृत आहाराभ्यास के संस्कारों से प्रेरित होकर दुग्धपानादि भोजन करने में प्रवृत्त होते हैं। विना पूर्वजन्म को माने जातमात्र की भोजन में प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इससे अनुमान होता है कि इस शरीर से पहले भी शरीर था, जिसमें इसने भोजन का अभ्यास किया था। जब उस शरीर को छोड़कर यह दूसरे शरीर में आया, तब क्षुधा से पीड़ित होकर पूर्वजन्माभ्यस्त आहार का स्मरण करता हुआ दूध की इच्छा करता है, अतएव देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता।

प्यारे पाठक ! महात्मा कणादजी इस विषय में लिखते हैं—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः।

३।१।१

घ्राण, रसना, चक्षुः, त्वचा तथा श्रोत्र भेद से पाँच प्रकार के 'इन्द्रिय' और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द यह पाँच उक्त इन्द्रियों के 'विषय' हैं, यह दोनों प्रत्येक पुरुष को ज्ञात हैं, इनके सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब—इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि को आत्मा की सिद्धि में लिङ्ग कथन करते हैं।

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥

वैशेषिक ३-१-२

भाष्य—इन्द्रिय तथा उनके गन्धादि विषयों में 'यह घ्राण है' 'यह गन्ध है' इस प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न पदार्थ की सिद्धि में हेतु है अर्थात् जैसे छिदिक्रिया के साधनभूत कुठारादिकों का प्रयोक्ता उनसे भिन्न होता है, वैसे ज्ञान के साधनभूत घ्राणादि इन्द्रियों का प्रेरक उनसे भिन्न है क्योंकि 'जो प्रेरक है वह साधनों से भिन्न होता है,' यह नियम है। इस नियम के अनुसार जो घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों में प्रेरणा करने वाला उनसे भिन्न पदार्थ

है वही आत्मा है और जो गुण है वह द्रव्य के आश्रित होता है। द्रव्य को छोड़कर गुण कदापि नहीं रहता इस नियम के अनुसार 'यह घट है' 'यह रूप है' इत्यादि ज्ञानों का आश्रय भी पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्य तथा उनके कार्यभूत शरीरादि उक्त ज्ञान के आश्रय नहीं हो सकते इसलिये जो उक्त ज्ञान का आश्रय द्रव्य है वही 'आत्मा' है।

अब दूसरी युक्ति देते हैं—

"कारणाज्ञानात्"

वैशेषिक ३-१-४

शरीर के समवायिकारण सूक्ष्म भूतों में रूपादि विशेष गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, ज्ञान नहीं, यदि रूपादि की भाँति उनमें ज्ञान भी समवेत होता तो वह अपने कार्य शरीर में ज्ञान का भी आरम्भिक होता, परन्तु नहीं है, इससे सिद्ध है कि वह शरीर समवेत नहीं।

कार्येषु ज्ञानात्।

वैशेषिक ३-१-५॥

यदि सूक्ष्म भूतों में ज्ञान को समवेत मानें तो शरीर की भांति उनके कार्य घट पट आदि द्रव्यों में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए अर्थात् जैसे शरीर के आरम्भिक सूक्ष्म भूतों में रूपादि विशेष गुणों के पाये जाने से शरीर की भांति उनके कार्य घट पट आदि द्रव्यों में उक्त गुणों की उपलब्धि होती है वैसे ही ज्ञान की भी उपलब्धि होनी चाहिए परन्तु नहीं होती इससे सिद्ध है कि सूक्ष्म भूतों में ज्ञान नहीं, और उनमें ज्ञान के न होने से वह रूपादि की भांति शरीर का विशेष गुण भी नहीं हो सकता।

अज्ञानाच्च।

वैशेषिक ३-१-६॥

यदि यह कहा जावे कि घट आदि सम्पूर्ण वस्तुयें चेतन हैं उनमें सूक्ष्म रूप से ज्ञान है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि यह किसी प्रमाण से भी निश्चय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से तो सर्वथा घटादि जड़ प्रतीत होते हैं। अनुमान के लिए भी कोई व्याप्ति नहीं और शब्द से भी जड़ और चेतन, दो प्रकार की सृष्टि का होना सिद्ध है। सारांश यह कि किसी प्रमाण से भी घट आदि चेतन सिद्ध नहीं हो सकते।

प्यारे पाठक ! उपर्युक्त युक्तियों से जीव का शरीर से भिन्न और अभौतिक होना अच्छी प्रकार से ज्ञात होता है। मृत्यु और निद्रा का होना इस बात को सिद्ध करता है कि शरीर से आत्मा भिन्न है क्योंकि यदि शरीर को चेतन मानें तो भूतों का कार्य होने से उनके कारण को चेतन मानना पड़ेगा और भूतों के चेतन होने से घट पट आदि सब चेतन हो जायँगे, इस समय जड़ और चेतन का भेद सर्वांश में नहीं रहेगा, क्योंकि अब तो जड़ को भोग्य और चेतन को भोक्ता माना जाता है, और फिर ज्ञेय और ज्ञान भी नहीं होगा क्योंकि सब ही चेतन हैं और चेतन द्रष्टा होता है, दृश्य नहीं होता।

————

जीवात्मा द्रव्य है या गुण ?

बहुधा मनुष्यों को यह भ्रम उत्पन्न हो रहा है कि जीवात्मा, द्रव्य है या गुण ? यद्यपि संस्कृत फिलासफी (दर्शन) या साइन्स (भौतिक विद्या) के ज्ञाताओं ने जीवात्मा को द्रव्य ही बतलाया है जैसा कि महात्मा कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में जो नौ द्रव्य

वतलाये हैं उनमें एक आत्मा भी है, जिससे ज्ञात होता है कि वैशेषिककार उसे द्रव्य मानते हैं।

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।

वैशेषिक १।।१।।५।।

अर्थ—पृथ्वी, जल, तेज अर्थात् अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, मन, आत्मा ये नौ द्रव्य हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि द्रव्य का क्या लक्षण है ? जिस से हम जीवात्मा को द्रव्य स्वीकार करें, और गुण का क्या लक्षण है ? कि जिस के न होने से जीवात्मा गुणों से भिन्न समझा जावे। महात्मा कणदि मुनि ने वैशेषिक दर्शन में द्रव्य का लक्षण किया है—

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणण् ।।

वैशेषिक १।१।।१५।।

अर्थ—जिसमें क्रिया (कर्म) का होना पाया जावे जिस में गुण हों और जो वस्तुओं का समवायि कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं अर्थात् यह द्रव्य के लक्षण हैं। अब सोचना यह है कि आत्मा में इन में से कोई लक्षण पाया जाता है या नहीं? उत्तर मिलता है कि आत्मा में ज्ञान और प्रयत्न दो गुण विद्यमान हैं, जिस में गुण उपस्थित हो उस के द्रव्य होने में बाधा (आपत्ति) ही क्या है ? और फारसी मंतक (न्याय) वालों ने भी रूह (जीव) को मुदरक विज्जत (स्वाभाविक चेतन) मुतहर्रिक विलालात (अन्य साधनों के संयोग से जो क्रिया कर सके) स्वीकार किया है, जिस से रूह (जीवात्मा) में दरक (ज्ञान) तथा हरकत अर्थात् प्रयत्न का होना पाया जाता है। वहुधा मनुष्य कहेंगे कि महात्मा कणदि ने जो चौबीस गुण बतलाये हैं उनमें ज्ञान को तो गुण ही नहीं बतलाया ? बस, जब ज्ञान गुण ही नहीं, तो ज्ञान के कारण से जीवात्मा को द्रव्य कह ही नहीं

सकते ? रहा प्रयत्न, वह अङ्ग से मिल कर होता है इसलिए प्रयत्न भी जीवात्मा का स्वाभाविक गुण नहीं । अतः जीवात्मा को द्रव्य मानना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि कणाद जी ने गुण में बुद्धि की गणना की है, बुद्धि और ज्ञान पर्याय-वाची हैं, जैसा कि महात्मा गौतम ने न्यायदर्शन में दिखलाया है—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥

न्यायदर्शन १।१।१५॥

अर्थ—बुद्धि, उपलब्धि, और ज्ञान यह भिन्न-भिन्न वस्तु (पदार्थ) नहीं हैं किन्तु एक ही के नाम हैं, जब कि बुद्धि और ज्ञान दोनों पर्यायवाची हैं तो कणाद जी के बुद्धि को गुण में संख्या गिनने से ज्ञान का गुण होना सिद्ध हो गया, जब ज्ञान गुण है तो ज्ञान वाला अवश्य ही द्रव्य है परन्तु कोई-कोई यह आशङ्का करेंगे कि ज्ञान बुद्धि का पर्याय नहीं, इसकी सिद्धि के लिए कि—बुद्धि ज्ञान से भिन्न है— महर्षि मनु का यह श्लोक देते हैं—

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ॥

मनुस्मृति ५।१०६॥

अर्थ—जल से शरीर के अङ्ग, और सत्य बोलने और सत्य पर-मात्मा की उपासना और उसकी आज्ञा के अनुकल काम करने से मन, विद्या तथा तप से जीवत्मा और बुद्ध्रि ज्ञान से शुद्ध होती है । जब कि महर्षि मनु ज्ञान से बुद्धि का शुद्ध होना स्वीकार करते हैं तो बुद्धि और ज्ञान एक वस्तु नहीं, वरन् भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं । इसलिए यहाँ पर गौतम का प्रमाण सर्वतंत्र सिद्धान्त नहीं वरन् निज मत है क्योंकि मनु तथा गौतम के मत में विरोध है ।

इस का उत्तर यह है कि मनु ने इस स्थल पर **ज्ञान से तात्पर्य वेद** लिया है, अर्थात् वेद से बुद्धि की शुद्धि होती है, जिस प्रकार सूर्य और

नेत्र से सम्बन्ध है ऐसे ही बुद्धि और वेद से सम्बन्ध है, चूंकि चेतन अर्थात् ज्ञान वाले दो प्रकार के हैं, एक सर्वज्ञ दूसरा अल्पज्ञ इसलिये उनके ज्ञान भी दो प्रकार के हैं, बुद्धि दूसरे वेद, ज्ञान शब्द का प्रयोग दोनों में हो सकता है। यहाँ पर वादी फिर प्रश्न कर सकता है कि क्या वेद का विद्या से तात्पर्य्य है ? जैसा कि इस श्लोक में आया है कि विद्या और तप से जीवात्मा शुद्ध होता है।

इस का उत्तर यह है कि विद्या और बुद्धि का भेद है, जैसा कि वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में स्पष्ट रीति पर लिखा है। देखो—वैशेषिक दर्शन प्रशस्तपाद भाष्य पृष्ठ ३९ पंक्ति ७ से ८ तक, यद्यपि बुद्धि अर्थात् ज्ञान, वस्तुओं के असंख्य होने से असंख्य भाँति का है, परन्तु संक्षेप रीति से उसके दो भेद हैं एक विद्या दूसरे अविद्या अतः जीवात्मा में अज्ञान के कारण दो प्रकार के ज्ञान रहते हैं एक अविद्या विद्या, तीसरे दूसरे परमात्मा का ज्ञान है, उसे **सत्य विद्या** कहते हैं। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जीवात्मा द्रव्य है। चूंकि उसमें द्रव्य के लक्षण पाये जाते हैं, गुण के लक्षण नहीं पाये जाते इसलिए गुण नहीं, और न वैशेषिककार ने उसको गुणों में गिना है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि गुण के लक्षण कहाँ हैं और वैशेषिक दर्शन में कौन से गुणों की गणना की गई है ?

द्रव्याश्रय्य गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥

वै० १–१–१६ ॥

अर्थ—जो द्रव्य के आश्रय पर अर्थात् द्रव्य न रहे और उस में दूसरा गुण न रहता हो संयोग और विभाग में कारण न हो अर्थात् उसकी आवश्यकता न पड़े यह गुण का लक्षण है। जबकि जीवात्मा में ज्ञान इत्यादि गुण विद्यमान हैं तो उसे लक्षण में गुण किस प्रकार कह सकते हैं। अब जो लोग जीवात्मा को द्रव्य नहीं मानते उन्हें विचारना

चाहिए कि जीवात्मा को द्रव्य न माना जावे तो उसके रहने के लिये किसी दूसरे द्रव्य की आवश्यकता होगी क्योंकि जब जीवात्मा को गुण मानेंगे तो प्रश्न उपस्थित होगा कि वह किसका गुण है ? और गुण दो प्रकार के होते हैं एक स्वाभाविक दूसरा नैमित्तिक। जो किसी दूसरे के कारण से प्राप्त हो, फिर प्रश्न होगा कि वह गुण नैमित्तिक है या स्वाभाविक। यदि कहा जावे कि जीवात्मा शरीर का स्वभाव है तो वह शरीर की विद्यमानता से भिन्न नहीं हो सकता, परन्तु हम शरीर से जीवात्मा को भिन्न होता हुआ ज्ञात करते हैं, जिससे मृत्यु का होना स्वीकार किया जाता है। साधारणतः लोग मृत्यु के समय कहते हैं कि अमुक मनुष्य प्रेत्यभाव को प्राप्त हो गया। इन्तिकाल के अर्थ मकान का बदलना है, यदि जीवात्मा शरीर का स्वाभाविक गुण हो, तो शरीर की उपस्थिति में किस प्रकार परिवर्त्तन हो सकता? इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह (जीवात्मा) शरीर का स्वाभाविक धर्म नहीं ? यदि कहो कि वह (जीवात्मा) शरीर का नैमित्तिक धर्म है, तो वह किस कारण शरीर में आता है और किस कारण जाता है, और वह मुख्य गुण किस का है ? कल्पना करो कि पानी का स्वाभाविक गुण शीतलता है, और अग्नि के कारण उसमें उष्णता आ सकती है, यदि अग्नि का स्वाभाविक धर्म उष्णता न होती तो किसी प्रकार पानी में उष्णता न आ सकती। इसी भाँति जब तक जीवात्मा किसी का स्वाभाविक धर्म न स्वीकार कर लिया जावे और उसको विद्या तथा बुद्धिपूर्वक युक्तियों से सिद्ध न किया जावे तब तक जीवात्मा को शरीर का नैमित्तिक गुण नहीं कह सकते। कतिपय लोगों का यह विचार है कि जीवात्मा प्रकृति की एक दशा का नाम है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह प्रकृति की दशा किस कारण से होती है, क्योंकि दशा के लिये या तो 'अवस्था' शब्द का प्रयोग हो सकता है या परिणाम का; परन्तु परिणाम और अवस्था कभी भी विना कारण नहीं हो सकती। क्योंकि यह

प्रकृति का स्वाभाविक गुण तो है ही नहीं, किन्तु इस दशा में उसे अस्वाभाविक गुण ही कह सकते हैं। जब जीवात्मा को नैमित्तिक गुण मानोगे तो उसके लिये कारण की आवश्यकता होगी, विना कारण के कभी नैमित्तिक का अस्तित्व व अभाव का होना सम्भव नहीं, दूसरे दशा भी गुण है, अतः उसे नैमित्तिक गुण ही कह सकते हैं, इस अवस्था में जबकि जीवात्मा नैमित्तिक गुण स्वीकार किया जावे तो उसमें ज्ञान इत्यादि दूसरे गुणों का होना किस प्रकार सम्भव हो सकता है, क्योंकि गुण में गुण हो नहीं सकता जैसाकि गुण के लक्षणों में बतलाया गया है, जब कि जीवात्मा में गुण विद्यमान है इसलिये उसे प्रकृति की एक अवस्था या परिणाम भी नहीं कह सकते। बहुत से मनुष्य कहते हैं कि जीवात्मा भी तो भूतों का कार्य है? यदि हम जीवात्मा को भूतों का कार्य स्वीकार कर लें तो उसे द्रव्य ही मानना पड़ेगा क्योंकि कारण के गुण के अनुकूल कार्य के गुण होते हैं, जैसा कि महात्मा कणादजी ने भी वैशेषिकदर्शन में लिखा है कि भूतों के द्रव्य होने से जीवात्मा का द्रव्य स्वीकार करना पड़ेगा, परन्तु भूत जड़ अर्थात् ज्ञान से रहित हैं, उनका कोई कार्य चेतन नहीं हो सकता क्योंकि जो गुण कारण में न हो वह कार्य में कहाँ से आ सकता है, जब तक कोई भूत चेतन सिद्ध न किया जावे तब तक उनका कोई कार्य चेतन नहीं कहला सकता क्योंकि इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति होना सम्भव हो जाती है, जो असम्भव है। महात्मा कपिलजी ने सांख्यदर्शन में भूतों से जीव की उत्पत्ति का खंडन किया है।

न भूतचैतन्य प्रत्येका दृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च

वैशेषिक ५। १२९

अर्थ—भूतों में चेतनता अर्थात् ज्ञान शक्ति नहीं है, क्योंकि भिन्न-

भिन्न भूत ज्ञान से रहित हैं, इसलिये उनके मिलाप (संयोग) से ज्ञान शक्ति का उत्पन्न होना असम्भव है, क्योंकि नियम यह है कि शक्ति खंडों में थोड़ी-थोड़ी होती है वह मिलाप से बहुत हो जाती है, परन्तु जो शक्ति खण्डों में होवे ही नहीं उसकी उत्पत्ति संयोग से नहीं हो सकती, क्योंकि अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति असम्भव है, इस पर महात्मा कपिलजी ने सांख्य शास्त्र में भली प्रकार से विस्तार पूर्वक सिद्ध किया है कि अभाव से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती—

"ना वस्तुनो वस्तु सिद्धिः ।"

सांख्य १-७८

अर्थ—अवस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती जैसे शशक (खरहे) के सींग नहीं तो उससे कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं होती, जो वस्तु होती है उससे कोई वस्तु उत्पन्न होती है, इसको और भी पुष्ट करते हैं—

"नासदुत्पादो नृश्रृंगवत्"

१-११४

अर्थ—जैसे मनुष्य के सींग नहीं हैं और उनकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसे ही जो वस्तु न हो उसकी उत्पत्ति का होना असम्भव है। क्योंकि उत्पत्ति के अर्थ प्रत्यक्ष होना है। जो वस्तु है ही नहीं, वह प्रत्यक्ष क्या होगी, इसके लिये युक्ति देते हैं—

"उपादान नियमात्"

सांख्य १-११५

अर्थ—चूंकि उपादान कारण प्रत्येक वस्तु की नियत है, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो वस्तु है उसी का प्रत्यक्ष होता है। जब तक वस्तु उपस्थित न हो, उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इस कारण जब तक भिन्न-भिन्न भूतों में किसी को ज्ञान गुण का केन्द्र सिद्ध न किया जावे तब तक वह भूतों के कार्य शरीर या जीवात्मा का गुण हो ही नहीं सकता, चूंकि मूल भूतों में से प्रत्येक भूत ज्ञान से रहित है इस कारण उनके कार्य जीवात्मा में ज्ञान का होना असम्भव है,

चूंकि जीवात्मा में ज्ञान का होना पाया जाता है, बल्कि जीवात्मा का लक्षण, ज्ञान प्रयत्न वाला होना है, इसलिये जीवात्मा भूतों का कार्य नहीं, इसके सम्बन्ध में दर्शनों में बहुत सा वर्णन है, जिसको हम छोटी सी पुस्तक में वर्णन नहीं कर सकते। केवल सारांश सब विषयों का यह है कि जीवात्मा भूतों के कार्य शरीर से भिन्न द्रव्य है। महात्मा गौतम जी ने भी न्याय दर्शन में उसको सिद्ध किया है।

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात्

न्या० ३-१-१

अर्थ—चूंकि देखने और स्पर्श (छूने) में ही वस्तु का ज्ञान होता है अर्थात् जिस वस्तु को देखते हैं उसको उठाते, इससे ज्ञात होता है कि शरीर और इन्द्रियों से भिन्न कोई आत्मा है, क्योंकि आँखों का काम देखना और खाल (त्वचा) का काम छूना यदि स्वीकार किया जावे तो इस बात का ज्ञान कि 'जिसको मैंने देखा था उसको उठाया है' किस प्रकार होगा—पर इस बात का ज्ञान हमें होता है। जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आत्मा है। न्यायदर्शन में इसके सम्बन्ध में कि—"जीवात्मा है और वह नित्य अर्थात् उत्पति से रहित है बहुत सी युक्तियाँ विद्यमान हैं, जिनका वर्णन इस पुस्तक में होना कठिन है। उपनिषदों में भी जीव को शरीर से भिन्न और नित्य सिद्ध किया गया है। देखो छान्दोग्य उपनिषद में जहाँ उद्दालक मुनि ने श्वेतकेतु को—इस बात का उपदेश किया है कि शरीर के जिस भाग को जीव त्याग देता है वह भाग सूख जाता है, जब सम्पूर्ण को जीव त्याग देता है तो सब सूख जाता है, जीव के अलग हो जाने से यह शरीर मरता है जीव नहीं मरता। जो मनुष्य शरीर के साथ जीवात्मा की उत्पत्ति मानते हैं, यह उनका कर्त्तव्य है कि वे सिद्ध करें कि जीवात्मा भौतिक है या अभौतिक? वह शरीर के तत्त्व से भिन्न किसी का कार्य है या शरीर का गुण है। जहाँ तक ज्ञान तथा युक्तियों से पता लगता है वहाँ तक तो

स्पष्ट सिद्ध है कि जीवात्मा द्रव्य है, और चेतन इत्यादि उसका गुण है। और वह कर्म करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है, वह पुराण परमेश्वर की अनादि प्रजा है, जिस समय से वह शासक है उसी समय से यह उससे शासित है, न यह उत्पन्न भूत है और न नाशवान् है, भौतिक शरीर उसके आने का मकान या उसके मुक्ति के लिये गाड़ी है, और इन्द्रियाँ इस गाड़ी के घोड़े हैं और मन उन घोड़ों की बागें हैं, और बुद्धि जो जीवात्मा का गुण है, कोचवान का काम देती है, और संसार की वस्तुयें जिससे उसे ज्ञान प्राप्त होता है इसका मार्ग है, जिस पर होकर यह आनन्द को प्राप्त कर सकता है। यदि इस विषय में अधिक अन्वेषण की आवश्यकता हो तो दर्शन और उपनिषदों को पढ़िये, उनके विचारों को युक्तियों से अन्वेषण कीजिये तो ठीक पता जीवात्मा की दशाओं का मिल जायगा। इस स्थान पर केवल स्थाली पुलाकन्याय से दिखलाया गया है।

आत्मिक बल

प्रिय पाठकगण! आजकल हमारे अधिक भाई कार्य का आरम्भ करके मध्य में ही छोड़ देते दिखलाई देते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उनको उस काम के करने की शक्ति न थी। आप कहेंगे कि जब कि वह शिक्षित चिन्तारहित और बलवान् हैं तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि उनमें उस कार्य के करने की शक्ति न थी? हमने जहाँ तक परीक्षा की है उस से विश्वास हो गया है कि प्रत्येक कार्य का होना आत्मिक बल के आधीन है। यद्यपि शारीरिक बल और धन का बल भी सांसारिक कार्य्यों के करने के लिये एक आवश्यकीय पदार्थ है परन्तु आत्मिक बल होने पर ये सब वस्तुयें उत्पन्न हो जाती हैं और इनके होने पर आत्मिक बल का होना निश्चित नहीं और न इनसे आत्मिक बल उत्पन्न हो सकता है। अब प्रश्न यह होता है कि

आत्मिक बल क्या पदार्थ है जिसके होने पर समस्त कार्य पूर्ण रूप से हो सकते हैं और जिसके न होने से बहुधा धनों की विद्यमानता में भी कार्य्य नहीं हो सकता, इसका उत्तर यह है कि ज्ञान और प्रयत्न वाली शक्ति,को आत्मा कहते हैं और ज्ञान और प्रयत्न उसके गुण कहलाते हैं और गुणों के बढ़ने का नाम बल का बढ़ना कहलाता है इसलिये आत्मा में ज्ञान और प्रयत्न की निर्बलता है और ज्ञान व प्रयत्नका बढ़ना ही आत्मिक बल है, हमारे बहुत से मित्र कह देंगे कि "न्यायशास्त्र" में जीवात्मा के ये लक्षण लिखे हैं—सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान। तुमने पहले चार क्यों छोड़ दिये, और अन्त के दो क्यों रख लिये ? इसका उत्तर यह है कि पहिले चार तो शरीरस्थ आत्माके गुण हैं, उदाहरण—कोई मनुष्य हाथ से कुल्हाड़ी की शक्ति से काटता है अब लकड़ी काटना कुल्हाड़ी से मिले हुए हाथ का कार्य है केवल हाथ का नहीं क्योंकि न तो विना कुल्हाड़ी के हाथ काट सकता है और न विना हाथ की सहायता के कुल्हाड़ी काट सकती है जबकि दोनों में से पृथक्-पृथक् कोई भी काटने की शक्ति नहीं रखता और मिलकर बराबर काट सकते हैं तो वह मिले हुओं का धर्म्म है एक का काम नहीं। इसी प्रकार सुख-दुःख और इच्छा, द्वेष सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा को प्रतीत होते हैं न एकाकी (अकेले) आत्मा को प्रतीत होते हैं और न अकेले शरीर को। यदि अकेले आत्मा के गुण मान लिये जावें तो सुषुप्ति की दशा में भी इनका अनुभव होना चाहिये परन्तु सुषुप्ति की दशा में किसी को भी सुख-दुःख, इच्छा द्वेष विदित नहीं होते इससे निश्चय होता है कि यह आत्मा के धर्म नहीं। यदि अकेले शरीर के मान लें तो मृतक में भी होने चाहियें, परन्तु मृतक में यह गुण नहीं जिससे प्रकट होता है कि ये गुण आत्मा और शरीर के मेल से उत्पन्न होते हैं।

प्रिय पाठक महाशयो ! हमारे अनेक मित्र कहेंगे कि सुषुप्ति काल में आत्मा को ज्ञान नहीं रहता इसी कारण उस समय सुख

दुःख आदि विदित नहीं होते नहीं तो आत्मा में यह गुण सदैव रहता, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मा किसी काल में भी ज्ञान और प्रयत्न से रिक्त नहीं हो सकता और किसी द्रव्य के गुण उसकी विद्यमानता में उसे छोड़कर जा ही नहीं सकते, फिर किस प्रकार माना जा सकता है कि चैतन्य आत्मा के गुण, ज्ञान और प्रयत्न पृथक् हो जावें जबकि वह विद्यमान हो और प्रत्येक द्रव्य गुणों का समूह है तो द्रव्य के होने के लिये गुणों का होना आवश्यक है—परन्तु अधिकांश मित्र यह कहेंगे कि क्या कारण है, कि जो सुषुप्ति की दशा का ज्ञान प्रतीत नहीं होता, इस का उत्तर यह है, कि ज्ञान दो प्रकार का है एक स्वाभाविक दूसरा नैमित्तिक, स्वाभाविक ज्ञान तो वह है कि जो किसी इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध के विना रहता है जैसे अपने होने का ज्ञान। दूसरा ज्ञान पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, जैसे—रूप-ज्ञान के लिये रूपवाली वस्तु और रूप के ग्रहण करने वाली इन्द्रिय अर्थात् चक्षु और रूप के प्रकाश करने की शक्ति जैसे सूर्य दीपक इत्यादि का होना आवश्यक है। आत्मा ज्ञानी होने पर भी विना इन तीन पदार्थों के रूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और शब्द ज्ञान के लिये कान, आकाश और शब्द का होना आवश्यक है इसी प्रकार बाह्य पदार्थों का ज्ञान विना साधनों के हो नहीं सकता परन्तु अपने ज्ञान अथवा आन्तरिक पदार्थों के जानने के लिये किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं।

प्यारे पाठको ! ऊपर के दृष्टान्तों से आपने समझ लिया होगा कि जिन पदार्थों के लिये साधनों की आवश्यकता है वे बाह्य पदार्थ हैं और जिनका ज्ञान विना साधनों के होता है वह उसका अपना गुण है। अब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष का होना विना मन की वृत्ति संयोग के हो नहीं सकता जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो इच्छा उत्पन्न होती है।

जब उसको बुरा समझते हैं तो उस में द्वेष हो जाता है और जिस पदार्थ का संयोग आतमा के अनुकूल प्रतीत होता है उसे सुख मानते हैं और जब आत्मा के प्रतिकूल होता है, उसे दु:ख कहते हैं इसलिये यह गुण मन के कारण से उत्पन्न होते हैं और सुषुप्ति काल में जब कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपना २ काम छोड़ देते हैं तब सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष सर्वथा नहीं रहते, केवल ज्ञान और प्रयत्न जो आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं वे शेष रह जाते हैं, अब यह शङ्का होगी कि सुषुप्ति समय में आत्मा को किस वस्तु का ज्ञान रहता है और वह किस के लिये प्रयत्न करता है इसका उत्तार यह है कि सुषुप्ति काल में आत्मा को अपने होने का ज्ञान होता है और वह शरीर की उस न्यूनता को जो जागृत अवस्था के दु:खों से उत्पन्न हो गई है पूरा करने के लिये प्रयत्न करता है।

अब यह शङ्का हो सकती है कि जब महात्मा गौतम ऋषि ने अपने दर्शन में जीवात्मा के छः गुण माने हैं और महर्षि कणाद ने इससे भी अधिक, तो तुम्हारा कहना किसी प्रकार सत्य नहीं हो सकता, इसका समाधान यह है कि विचारपूर्वक महात्मा गौतम का दूसरा सूत्र तो पढ़ो जिसमें महात्मा गौतम ने इन गुणों को मिथ्या ज्ञान की सन्तान में बतलाया है इसलिये ये चार जीवात्मा के गुण नहीं हो सकते। प्रिय पाठको ! महात्मा कणाद जी ने अपने वैशेषिक शास्त्र में आत्म संयोग से ही कर्म्म माना है और विना आत्मा के कर्म्म हो ही नहीं सकता। जैसा कि लिखा है—

आत्म संयोग प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म।

वैशेषिक ५।१।१

जब आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है तब ही हाथ में कर्म्म अर्थात् कार्य करने की शक्ति होती है विना आत्मा के संयोग के नहीं होती।

तथा हस्त संयोगाच्च मुसले कर्म।।

वैशेषिक ५।१।१

और जब आत्मा से युक्त हाथ मूसल से सम्बन्ध उत्पन्न करता है तो मूसल में कार्य करने की शक्ति आ जाती है। यहां हाथ से सारे शरीर के अंग प्रयोजन हैं और मूसल से सर्व प्रकार के बाहरी शस्त्र अर्थात् साधन जिन से मनुष्य कार्य्य लेते हैं, इसी प्रकार अन्य भी समझना चाहिये।

मित्र वर्गो! जब यह निश्चय हो गया कि आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न दो गुण हैं और इन दोनों का नाम आत्मिक बल है और घटने का नाम आत्मिक बल की हानि है।

तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इनके बढ़ने और घटने का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि संसार में हमें एक नियम विदित होता है कि जहां जिसके सदृश पदार्थ मिलते हैं वहाँ उसकी उन्नति होती है जहां विरुद्ध मिलते हैं वहाँ हानि, जैसे वर्षा ऋतु में जब कि चारों ओर पानी बरस रहा हो और ठण्डी पवन के झोंके वेग से चल रहे हों उस समय यदि आप एक दियासलाई की तीली जलायेंगे तो कठिनता से जलेगी परन्तु उसको ग्रीष्म ऋतु में जब कि लू अर्थात् गर्म वायु बह रही हो जलाना चाहो तो बड़ी आसानी से जल जायगी, दूसरे यदि रोगी को जिसको गर्मी के कारण ज्वर आता है गर्म औषधि देते चले जावें तो गर्मी के बढ़ने से रोग बढ़ता जाएगा यदि ठण्डी औषधियां दी जावें तो रोग निवृत्त हो जायगा। इससे प्रकट है कि सदृश पदार्थों के संयोग से उन्नति और विरुद्ध के संयोग से हानि होती है।

अब जानना चाहिये कि कौन-कौन से पदार्थ हैं जो आत्मा को मिलते हैं, उनमें से कौन-कौन अनुकूल और कौन प्रतिकूल हैं। इसका विचार करने से जहां तक ज्ञात होता है वे दो पदार्थ हैं एक प्रकृति दूसरा परमेश्वर, जिन से आत्मा का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। जीव चैतन्य और शरीर के सम्बन्ध से गति वाला, प्रकृति परिवर्तन वाली और ज्ञान शून्य है, परमेश्वर ज्ञान स्वरूप और स्वाभाविक क्रियावान् और आनन्द स्वरूप है। प्रियपाठक! जब कि प्रकृति ज्ञान-

शून्य और क्रिया रहित है और जीव ज्ञान सहित और क्रियावान् है तो जो प्रकृति से अपना सम्बन्ध करेंगे तो उससे ज्ञान और क्रिया की उन्नति तो होती नहीं, हां प्रकृति के गुण उसमें प्रतीत होने लगेंगे, यद्यपि प्रकृति में जीव के सम्बन्ध से क्रिया उत्पन्न हो जायगी तथापि कुछ अंश ज्ञान का भी संयोग से प्रतीत होगा, परन्तु जीव के यह दोनों गुण न्यून होते चले जायेंगे जितनी प्राकृतिक शक्तियां उसके ज्ञान और क्रिया की शक्ति अधिक होती जायगी, जैसे जितने समय तक दीपशलाका धूंप में पड़ी रहेगी उतनी ही तीव्र होती चली जायगी।

भ्रातृवर्ग ! अब यह तो सिद्ध हो गया कि आत्मा का बल ईश्वरोपासना है।

अनेक पाठक कहेंगे कि यह केवल कथन मात्र ही है परन्तु यदि वे विचारपूर्वक लौकिक इतिहासों का अवलोकन करें तो उन पर विदित हो जायगा कि आत्मिक बल ईश्वरभक्तों का ही भाग है।

अर्थात् अनुसन्धान तो कीजिये कि क्या कारण था कि राजा हरिश्चन्द्र इतनी आपत्तियों के उपस्थित होने पर भी अपने सत्य पर दृढ़ स्थिर रहा ? क्या कारण था कि महात्मा रामचन्द्र जी ने पिता की आज्ञा पाते ही राज्य को तुच्छ समझ कर त्याग दिया और वन को चले गये, क्या कारण था कि लक्ष्मण जी ने सब प्रकार के सुखों का परित्याग कर भाई के साथ वन को जाना स्वीकार किया ? क्या कारण था कि सीता जी ऐसी सुकुमारी रानी ने वनों में भ्रमण करना स्वीकार किया और राज्यादि के आनन्दों की कुछ भी इच्छा न की, क्या कारण था कि राजा मोरध्वज का शरीर चीरा गया तो भी आनन्दपूर्वक चीरे जाने से प्रसन्नचित्त रहा। क्या कारण था कि महात्मा भर्तृहरि जी ने अपने सारे राज्य को तुच्छ जान जंगल जाना स्वीकार किया ? क्या कारण था कि गुरु तेग बहादुर यवनों के हाथ से मृत्यु को प्राप्त होने से भयभीत न हुए ? क्या कारण था कि गुरु

गोविन्दसिंह के दोनों लड़के दीवार में चुने जाने पर मृत्यु से न डरे, क्या कारण था कि महात्मा पूर्ण भक्त ने सहस्रों आपत्तियों को सहन किया परन्तु उसकी आत्मा पाप की ओर आकर्षित न हुई, क्या कारण था महात्मा हकीकतराय ने १६ वर्ष की अवस्था में यवनों के हाथ से मरना स्वीकार किया परन्तु धर्म को न त्यागा ? क्या कारण था कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने सारे भारतवर्ष का शत्रु बनना, ईंट-पत्थर खाना उत्तम समझा परन्तु अधर्म का मूलोच्छेद किया और धर्म के विरुद्ध चलना महापाप समझा। आप विचारोगे तो प्रत्यक्ष ज्ञात होगा कि यह आत्मिक बल का ही कारण था कि जिसने इन महात्माओं को संसार के सम्मुख विजयी किया।

प्रिय पाठकवृन्द ! क्या आपने कभी विचार नहीं किया कि वह कौन से कारण हैं जिन्होंने रानी पद्मनी को प्रचण्ड अग्नि में भस्म हो कर मरना स्वीकार कराया, परन्तु यवन बादशाह की बेगम बनना अस्वीकार किया ? क्या कारण था कि जिसने राजा दाहिर की रानी को चिता में जलकर मरने पर कटिबद्ध किया, वह कौन सी शक्ति थी जिसने कृष्ण कुमारी को जलती हुई चिता पर बिठा दिया ? कहां तक गिनायें इस भारतभूमि में असंख्यात दृष्टान्त हैं जिनके नाम सूर्य के समान इस संसार में प्रकाशित हैं। आप इसका उत्तर यही देंगे कि धर्मभाव इनमें था जिसने इन सुकुमारी सतियों को प्रसन्नतापूर्वक इन आपत्तियों के सहने पर सन्नद्ध कर दिया। यह धर्म क्या वस्तु है केवल ईश्वरोपासना। बस आप समझ गये होंगे कि संसार में धर्म और अधर्म या पाप और पुण्य जो दो शब्द हैं इन का आशय केवल ईश्वरोपासना और प्रकृति की उपासना है। ईश्वर-उपासना धर्म है जिससे आत्मिक बल मिलता है और वह ऐसे उन्नति के कार्य करता है जिससे संसार में सुखों की प्राप्ति हो कर जीव की ज्ञानशक्ति बढ़ जाती है। संसार में जितने योगी हुए हैं, जिन्होंने अपने आत्मा को प्रकृति से अलग करके ज्ञान की ओर लगाया है वे सब

संसार में ज्ञानी और विद्वान् कहलाये और अद्य पर्यन्त उनका नाम और कार्य्य संसार में विख्यात है परन्तु जितने प्रकृति के उपासक हुए जिन्होंने आत्मिक हानि को प्राप्त किये वे दास होकर चले गये उनके जीवन में मूर्खता और दुःख ने आक्रमण किया रखना, मरने के पश्चात् भी कष्ट के अतिरिक्त कुछ न मिला और आज कोई जानता भी नहीं।

प्रियवरो ! आत्मा एक राजा है जिसकी राजधानी यह शरीर है, इन्द्रिय, बुद्धि, मन इत्यादि इसके कर्मचारी हैं, यदि यह राजा बलवान् होता है तो अपने कर्मचारियों पर शासन करता है और अपनी इच्छानुसार उनसे काम लेता है। उस समय उसके कर्मचारी उसके दास हो कर उसको प्रत्येक प्रकार का सुख देते हैं परन्तु जिस समय निर्बल हो जाता है उस समय कर्मचारी उसको दबा लेते हैं और वह प्रत्येक से विनय करता है और वह उनके लिये भोजन का यत्न करता है यद्यपि यह कार्य इन कर्मचारियों का था कि अपना भोजन प्राप्त करते अर्थात् अपने विषयों को भोगते हुए भोजन अर्थात् बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते परन्तु आत्मा को निर्बल देख कर ऐसे आलसी और अहंकारी हो जाते हैं कि राजा को स्वयम् इनके भोजन का संदेह लगा रहता है उसकी सारी स्वतन्त्रता और प्रधानता बिक जाती है, वह अपने आपको राजा के स्थान में दास अनुभव करने लगता है, अब उसका कार्य्य यह होता है कि साईस की भांति घोड़ों के पालन पोषण में लगा रहे, उसे अपने उस मार्ग का ध्यान तक नहीं रहता कि जहां जाना है और वह जिन कार्य्यों को प्रबलता की दशा में तुच्छ समझता था उस निर्बलता की दशा में उस को एक आवश्यकीय कार्य समझ लेता है और पदार्थों का ज्ञान उसे प्रबलता की दशा में सुगमता से हो सकता था अब वह उसके विचार में अधिक गुरु दृष्टि आते हैं। भ्रातृवर्गो ! यह तो आप जानते हैं कि जिस राजा की प्रजा अयोग्य है वह प्रजा सदैव अकृतकार्य रहती है।

राजा का कार्य राजा से होता है दास से नहीं। इसी प्रकार जिस जाति का मुखिया अयोग्य है उसकी भी यही दशा होती है। इसी प्रकार प्रबल आत्मा के कार्य निर्बल आत्मा से हो नहीं सकते और संसार में भी देखा जाता है कि जिस मनुष्य की इन्द्रिय उसके वश में नहीं उसका कुटुम्ब उसके वश में नहीं रहता और जो अपने कुटुम्ब पर शासन न कर सके वह अपने मुहल्ले पर शासन नहीं कर सकता और जो अपने मोहल्ले पर शासन नहीं कर सकता वह अपने ग्राम पर शासन नहीं कर सकता और जो ग्राम पर शासन नहीं कर सकता वह प्रान्त पर शासन नहीं प्राप्त कर सकता और जो प्रान्त के योग्य नहीं वह देश पर क्यों कर शासन कर सकता है और जो एक देश पर भी शासन नहीं कर सकता है वह संसार पर किस प्रकार हुकूमत कर सकता है? यहां से पता मिलता है कि संसार में सब से बड़ी उत्तीर्णता की सोपान आत्मा का इन्द्रिय और मन पर शासन के लिये आत्मा को अत्यन्त भारी शक्ति की आवश्यकता है, क्योंकि ये इन्द्रियां संसार के सहस्रों पदार्थों को मन के द्वारा सम्मुख करके आत्मा को धोका देना चाहती हैं परन्तु प्रबल आत्मा जिस का ज्ञान गुण परमात्मा की प्रबल शक्ति से सहायता पाकर उन्नति कर चुका है जिसको प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ ज्ञान है वह इन इन्द्रियों और मन के वशीभूत नहीं हो सकता। जो इन्द्रियों और मन को वश में करने योग्य बल आत्मा में रखता है वह कृतकार्य्य हो सकता है।

———

भोला यात्री

प्यारे पाठकगण! एक वार एक भोला पथिक घर से बहुत से रत्न लेकर इस बात के लिये निकला कि दूसरे देशों में जाकर इन को बेचकर ऐसी उत्तम-उत्तम वस्तुएँ खरीद कर लाऊँगा जिससे बहुत

लाभ होगा। यह बेचारा अभी घर से थोड़ी दूर गया था कि उसे भाँग का वन मिला। उसे उस समय दांतन करने की जरूरत हुई। उसने इधर-उधर देखा तो सिवाय भांग के और कोई पेड़ न पाया। लाचार होकर उसी की एक डाली तोड़ कर दांतन करनी आरम्भ करदी, यद्यपि यह यात्री जानता था कि भांग मादक वस्तु है और उसके पीने से मनुष्य बेहोश हो जाते हैं लेकिन इसे इतना ज्ञान न था कि इसकी दांतन करने से भी वह बेहोश हो जायेगा। अन्त को थोड़ी देर में उसे नशे ने बेहोश कर दिया और वह अपने मूल अर्थ को बिलकुल भूल गया। उसे यह ध्यान बिलकुल न रहा कि मैंने भांग का प्रयोग किया है और वहाँ से झूमता-झामता मस्ती से स्वयं बुद्धिमान् व्यापारी सचमुच पागल बन कर चला। थोड़ी देर में किसी शहर में पहुंच गया। शहर के लड़कों ने इसे बेहोश समझ कर इसकी हँसी उड़ानी शुरू की। उसने उन्हें डाटा और कहा कि क्या तुम मुझे पागल समझते हो, लड़के उसकी इस बात पर हँस पड़े और उन्होंने कंकड़ उठा कर मारने शुरू कर दिये। यह भोला पथिक उन लड़कों के कंकड़ों से बचने के लिये एक मकान में जा छिपा, लेकिन उस मकान में चन्द खिड़कियाँ थीं जिनके बन्द करने की शक्ति उस भोले पथिक में नहीं थी। जब उसने देखा कि यहाँ भी कंकड़ बराबर हानि पहुंचा रहे हैं तो उसने यह सोच कर कि अगर कंकड़ वापिस फैकूंगा तो यह कंकड़ कभी समाप्त न होंगे, अपने लाल लड़कों की तरफ मारने शुरू कर दिये। लड़कों ने उसके लालों को उठाना शुरू कर दिया और यह समझ कर कि इसके लाल अवश्य समाप्त हो जायँगे खूब जोर-जोर से जल्दी-जल्दी कंकड़ फेंकने लगे और उनकी इस बात को देख कर इसने भी जल्दी-जल्दी लाल फेंकने शुरू कर दिये, आखिर थोड़ी देर में इसके तमाम लाल पूरे हो गये और इस विचार में जो उन लड़कों के कंकड़ों से पैदा हुआ था कुछ देर में उसका नशा भी उतर गया। अब तो उसे अपनी भूल और पागलपन का हाल मालूम हुआ, लेकिन अब क्या हो सकता था लड़के तमाम लाल लेकर भाग गये थे

जिसमें अब एक भी वापिस आना सम्भव न था, अब यह व्यापारी हैरान था कि अब क्या करे और किस मुँह से अपने शहर में वापिस जावे।

प्यारे मित्रो! इस भोले पथिक की दुर्दशा पर आपको कैसा खेद होता होगा। क्या आपका दिल उसके भयानक मामले से कुछ उपदेश प्राप्त करना चाहता है या आप इस मामले को देख कर भी कोई नतीजा निकालना नहीं चाहते क्या तुम उस पथिक के मूल कारण को मालूम करना चाहते हो कि ये कौन था? और कहाँ से आया था? क्या तुम्हें उस शहर के लड़कों से जानपहचान करनी जरूरी मालूम होती है या नहीं कि जिन्होंने इस भोले यात्री के कुल लाल कंकड़ मार-मार कर छीन लिये थे? क्या तुम्हें इस यात्री के मन्दभाग्य पर कुछ अफसोस भी आता है या नहीं, क्या तुम से किसी एक के साथ यही मामला पेश आये तो तुम्हारी क्या हालत हो? पहले तो हमारे बहुत से पाठक-गण ऐसे होंगे जिनको पथिक की तरह भांग आदि नशे के प्रयोग से जरा भी होश न होगा, जो कुछ होशमन्द आदमी होंगे वह कह उठेंगे कि इस प्रकार के यात्री की बेहोश हालत काबिल अफसोस है। हाँ, क्या तुम ऐसे लड़कों से जिन्होंने कंकड़ फैंक कर भोले यात्री के लाल छीन लिये, कभी मिलना पसन्द करोगे? मेरे ख्याल में तो कोई उनसे मिलना पसन्द नहीं करेगा। क्या तुम्हारे पास भी अगर ऐसे ही लाल हों और इस किस्म के लुटेरे लड़के तुम्हारे साथ लगे हों तो क्या तुम उनको दूर भगाने की कोशिश करोगे? अगर तुम उनको सचमुच दूर भगाना चाहो तो हम तुम्हें बतलावें कि वह भोला पथिक कौन है और उसके लाल क्या हैं? लड़के कौन हैं? उसके कंकड़ किस तरह के हैं? और किस तरह यह भोला यात्री भांग के प्रयोग से बेहोश हो जाता है तो हम तुमको ये तमाम बातें बतला देते हैं इस मामले से डर जाना या फल निकलना तुम्हारे वश में है।

प्यारे मित्रो! यह जीवात्मा ही भोला पथिक है। आप शंका करेंगे कि भोला तो मूर्ख होता है, तुम इस ज्ञानस्वरूप जीवात्मा को

किस तरह भोला बतलाते हो, इसका जवाब यह है कि भोला थोड़े ज्ञान वाले को कहते हैं बिलकुल जड़ को नहीं कहते। चूंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है इसलिये इसे भोला कहा गया। अब आप फिर कहेंगे कि जीवात्मा को मुसाफिर क्यों कहा, इसका जवाब यह है कि जो परिमित और थोड़े शङ्काओं को पूरा करने के लिये क्रिया किया करे उसे यात्री कहते हैं क्योंकि सर्वव्यापक को पथिक नहीं कह सकते हैं।

जीवात्मा ही भोला पथिक है और ये जीवात्मा अपनी आयु के सांस जो बहुमूल्य लाल हैं उनको लेकर इस संसार में नेकी या ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करने का सौदा खरीदने के लिये आता है जिससे वह अपने आपको अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बनाले, लेकिन इस संसार में जो प्रकृति भांग का वन है, जीवात्मा उसकी शरीर रूपी दांतन को ग्रहण करता है वहीं उसका ज्ञान कम होने लगता है। यद्यपि जीवात्मा जानता है कि इस प्रकृति से ज्ञान प्राप्त नहीं होता बल्कि अज्ञान मिलता है लेकिन तो भी वह अपने शरीर को प्राकृत न समझ कर उसका बहुत देर तक रहना पसन्द करता है और जितनी अधिक देर तक जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है उतनी ही अधिक उसे अज्ञानता और मूर्खता बढ़ती जाती है और वह अधिकतर फँसता चला जाता है।

प्यारे पाठकगण ! जीवात्मा की अवस्था ऐसे बहुमूल्य लाल हैं कि यदि चक्रवर्ती राजा या बड़ा भारी शाहन्शाह अपनी मृत्यु के समय अपनी सारी हुकूमत और धन के बदले पांच मिनट जीवन भी मांगें तो सम्भव नहीं कि वह किसी मूल्य पर भी उसको प्राप्त कर सके इसलिये मनुष्य का जीवन बहुत ही बहुमूल्य लाल हैं लेकिन यह अल्पज्ञ जीवात्मा अपनी भूल से जो प्रकृति के सम्बन्ध से पैदा हो चुकी है ऐसे जीवन की कदर नहीं जानता और जब वह संसार के शहर में प्रकृति के सम्बन्ध से बेहोश होकर आता है या पांचों भूत जो इस संसार के शहर के लड़के हैं जीवात्मा को मूर्ख देखकर अपने-

अपने गुणों के कङ्कड़ जो विषय रूप हैं इस जीवात्मा को मारना शुरू करते हैं तब जीवात्मा इन प्राकृत असरों के बचने के लिये शरीर रूपी मकान में दाखिल हो जाता है लेकिन इस शरीर में चन्द खिड़कियाँ हैं जिन्हें इन्द्रियां कहते हैं ये पञ्चभूत अपने गुणों के कङ्कड़ों को इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा पर फेंकते हैं और जीवात्मा अपनी बेहोशी में इन कङ्कड़ों के बदले अर्थात् विषय भोग में जो भूतों के गुणों से हासिल होता है अपना थोड़ा-थोड़ा वक्त देना शुरू करता है और समझता है कि ये विषय तो खत्म हो जावेंगे लेकिन मेरा जीवन का वक्त पूरा नहीं होगा इस तरह जीवात्मा अपनी सारी आयु इन विषयों के बदले खर्च कर डालता है। जब मृत्यु निकट आती है तब इसे होश आता है कि शोक मैंने अपनी सारी उमर निष्प्रयोजन खो दी, उस समय उसका कुछ इलाज नहीं हो सकता क्योंकि जो जिन्दगी विषयों के बदले खच हो गई है वह किसी तरह वापिस नहीं आ सकती जब जिन्दगी नहीं वापिस आती तो जीव को सिवाय अफसोस के क्या मिल सकता है ! किसी कवि ने सच कहा है—

"गया वक्त फिर हाथ आता नहीं"

प्यारे मित्रो ! क्या तुमको अपनी सारी उमर उस भोले पथिक की तरह खोकर अफसोस करना पड़ेगा या तो बीच में जब बहुत कुछ बाकी है व्यतीत हुए को छोड़ कर भविष्यत् का प्रबन्ध कर लोगे और अगर तुम अपने जीवन को बचा लोगे तो तुम से बढ़कर कोई अहोभाग्य नहीं क्योंकि जिन्दगी का थोड़ा वक्त भी ऐसी चीज है जिसे आइन्दा की उम्मेदों को पूरा करने की तरफ लगा सकता है और इस आदत के घोड़े की जरा-सी लगाम, फिर जाने पर उसकी चाल में जमीन आसमान का अन्तर आ जाता है, क्या हमको दूसरों की हालत देखकर पाप से न बचना चाहिए, देखो महमूद ग़जनवी बादशाह जैसे संसार पर जुल्म करके रुपया इकट्ठा करते हुए चले गये, क्या वह रुपया उनके साथ गया, क्या उस रुपये पर उनको अब

भी स्वत्व है, क्या उस रुपये से उनको अब कुछ फायदा हो सकता है, हरएक मनुष्य कहेगा बिलकुल नहीं। अगर दर हकीकत ये दुनिया के विषय और माल व दौलत की कामनायें ऐसी खराब चीज हैं कि जिससे मनुष्य को फायदे के बदले नुकसान पहुँचता है तो क्या आप उसे खुद छोड़कर स्वतन्त्रता हासिल नहीं करते।

प्यारे मित्रो! कैसे खेद का स्थान है कि हम दूसरों को मूर्ख कहते हैं और स्वयं मूर्खता के काम करते हैं, हम जानते हैं कि संसार की झूठी धूम से हमें कुछ फायदा नहीं होगा जब तक कि यथार्थ में हमारी आत्मा शान्त न हो जावे, लेकिन क्या हम कभी आत्मा की शान्ति का प्रयत्न सोचते हैं, क्या हम उन पर अमल करते हैं बिलकुल नहीं। इससे बढ़कर और कोई बेवकूफी हो सकती है? बहुत से नहीं करीबन कुल संसार के मनुष्यों को यह भी मालूम नहीं कि हमारा उद्देश्य क्या है? क्या अनपढ़ और मूर्ख ही इस रोग में ग्रसित हैं नहीं-नहीं बड़े-बड़े विद्वान् और ज्ञानवान् बी०ए०एम०ए०, साइंटिस्ट और फिलास्फर भी इस रोग से नहीं बचे। वह हर एक आदमी को पैदा होता और मरता देखते हैं और जागने की हालत में फिकर डर और दुःख को समझते हैं और सोते हुए बिलकुल आराम पाते हैं लेकिन इस साइंस से नतीजा कुछ भी नहीं निकालते। कैसे शरम की बात है कि दुनिया के आलिम हैं लेकिन अपना इल्म नहीं रखते और न विद्या के अर्थ को जानते हैं। साइंस पढ़ी है लेकिन अपनी साइंस को बिलकुल नहीं जानते और न साइंस के उन फायदों को, जो जागने और सोने से मालूम करना चाहिए समझ सकते हैं, पण्डित हैं लेकिन पंडितपने का असर सिर्फ दूसरों पर असर रखता है अपने हाल से कुछ सम्बन्ध नहीं।

प्यारे पाठकगण! अगर गौर से सोचा जावे तो इस संसार में बहुत थोड़े मनुष्य हैं जो उस भोले मुसाफिर की तरह अपने कीमती वक्त को बर्बाद नहीं करते। बहुत आदमी दौलत के बदले अपना

वक्त खोते हैं और वह अपने आपको बड़ा अकलमन्द मानते हैं। नहीं-नहीं बल्कि दुनियां के लोग भी उन्हें दाना और कारीगर जानते हैं लेकिन क्या दौलत के बदले वक्त खोने वाला सचमुच अकलमन्द है ? हमारे ख्याल में तो इससे बढ़कर कोई भी गलती नहीं क्योंकि जिस जिन्दगी से हम दौलत खरीदते हैं अगर वह जिन्दगी दौलत से हासिल हो सकती तो हम मान लेते कि बेशक धन मिलना जीवन का व्यर्थ खोना नहीं, लेकिन हम दौलत से जीवन प्राप्त होता नहीं देखते, बड़े-बड़े राजा और ज़ार रूस जैसे बादशाह चालीस-चालीस लाख फौज और तोपखाना रहते हुए करोड़ों रुपयों की मालियत होने पर संसार से खाली हाथ जाते हैं न तो इस दौलत से जिन्दगी वापिस मिल सकती है और न ये दौलत साथ जाती है। फिर दौलत के बदले जिन्दगी खोने वाले को बेवकूफ न कहें तो क्या कहा जावे ! हमारे बहुत से मित्र आक्षेप करेंगे कि क्या दौलत कमाना बुरी बात है ? अगर दौलत न कमावें तो संसार के व्यवहार कैसे चल सकते हैं ?

प्यारे पाठकगण ! ऐसा कहने वाले हमारे मित्र सचमुच भोले मुसाफिर हैं, वह नहीं जानते कि जेलखाने की मजबूती और स्वतंत्रता हासिल करने से क्या सम्बन्ध है क्योंकि जिस कदर जेलखाना मज़बूत होगा उसी कदर स्वतंत्रता मुश्किल हो जायगी। इसी तरह जिस कदर संसारी सामान अधिक होंगे उसी कदर मुक्ति दूर होती चली जायगी। लेकिन बाजे दोस्त कह उठेंगे कि संसार को जेलखाना कहना तुम ऐसे खफ्ती का काम है वरना दुनियां तो ऐश व आराम की जगह है। लेकिन यह दोस्त बहुत ही भोले हैं क्योंकि वह नहीं जानते कि दुनियां क्या चीज है। अगर दुनियां ऐश की जगह होती तो कोई भी एक हालत को छोड़ना ही पसन्द न करता क्योंकि संसार में हर आदमी अपनी हालत पर सन्तुष्ट नहीं जिससे मालूम होता है कि वह जिस हालत में है वह उसे पूरा आराम और ऐश न समझता और न अपनी उस हालत को अपनी जिन्दगी का उद्देश्य ख्याल करता है। बस जब कि कोई शख्स भी अपनी हालत अपनी जिन्दगी का उद्देश्य नहीं

जानता और उस को छोड़ कर आगे चलने की कोशिश करता है तो साफ मालूम होता है कि संसार मनुष्य की जिन्दगी का उद्देश्य नहीं सिर्फ बीच का रास्ता है। अगर कोई मुसाफिर राह में आराम करता है तो मंजिल से दूर ही पड़ा रहता है। सफर मिस्ल सिफर है वह जगह आराम की कहना गलती है।

प्यारे पाठकगण ! संसार में मनुष्य की उमर से बढ़कर कोई कीमती चीज नहीं। मनुष्य जो कुछ खरीदता है वह उमर के बदले खरीदता है, चूंकि बुद्धिमान् और ज्ञानी मनुष्य अपने थोड़े समय से बहुत ज्यादा फायदा उठाता है और बेवकूफ और मूर्ख आदमी अपने बहुत से वक्त से बहुत थोड़ा फायदा उठाता है जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की अवस्था में जिस कदर ज्यादा इल्म होगा उसी कदर अधिक कीमती होगी मसलन जो आदमी बिलकुल अनपढ़ और अज्ञान है वह दिन भर में मिहनत करके चार रुपए माहवार पैदा कर सकता है, और अगर उसे जरा भी इल्म हो जावे तो वह आठ तक पहुंच जाता है इसी तरह कारीगर और व्यापार का इल्म रखने वाला सौ पचास रुपया माहवारी पैदा करता है और जहाँ तक इल्म बढ़ाता है वहां तक मिहनत कम और फायदा ज्यादा होता है जिस से साफ मालूम होता है कि मनुष्य की कदर बकदर उसकी इल्मियत के होती है या यह कहो जिस कदर इल्म होता है उसी कदर वह उम्र की कदर को जानता है लेकिन अफसोस तो यह है कि हम चाहे किसी कदर संसारी इल्म हासिल करलें तो भी हम अपनी उमर की कदर को नहीं जान सकते और यही वजह है कि हम अपनी उमर के बेश कीमती जवाहरात बहुत कम कीमती चीजों के बदले में बेचते हैं।

प्यारे पाठकगण ! यह तो आपको हम पहले बता चुके हैं कि जिन्दगी का एक दिन भी बड़े-बड़े राज्यों के बदले नहीं मिल सकता। तो हम चाहें लाख रुपया माहवार क्यों न तनख्वाह पावें तो भी वह

हमारी जिन्दगी की असली कीमत नहीं हो सकती। इससे साफ मालूम होता है कि संसार के सम्पूर्ण मुसाफिर चाहे वह अपने आपको कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न मानते हों दरहकीकत भोले मुसाफिर हैं। क्या ऐसे भोले मुसाफिर जो अपनी जिन्दगी की कीमत और अपने उद्देश्य या मार्ग की रुकावटों से नावाकिफ हैं किसी तरह काबिल-पैरवी हो सकते हैं बिल्कुल नहीं, खुद अज्ञानी दूसरों को क्या समझा सकता है। जो खुद भूले हुए हैं उनसे मार्ग बताने की क्या उम्मीद हो सकती है, इस वास्ते संसार के ख्वाहिशमन्द जो मनुष्य जीवों की कदर से नावाकिफ है उनकी पैरवी करना हर एक मनुष्य के वास्ते हानिकारक है। मनुष्य का फर्ज है कि वह ऐसे मुसाफिरों की तलाश करे जो उद्देश्य और उसके रास्ते से ठीक ठीक वाकिफ हों और साथ ही राह के लुटेरों और धोखेबाजों की हालत से भी जानकार हों, जिनको न तो शहर दुनियां के लड़के सता सकते हों और वह अपने मकान की मोरियां बन्द करके उन लड़कों से बचने का भी इलाज जानते हों।

प्यारे पाठकगण! इस संसार में केवल योगी और वह लोग जिन्होंने संसार को त्याग दिया है तालीम की उत्तम दौलत से मनुष्य जीवन के उद्देश्य को ठीक तौर पर जान लिया है और जिनको इस मंजिल का रोशन रास्ता यानी वैदिक धर्म का भी ज्ञान है और वह अपने मकान की खिड़कियों को बन्द करने अर्थात् इन्द्रियों को भी रोकने की लियाकत रखते हैं, इस किस्म के महात्मा योगी इन भोले मुसाफिरों के वास्ते काबिल-पैरवी हो सकते हैं। जिनके पीछे लग कर ये लोग भी अपने उद्देश्य को पहुंच जावें ऐसे मनुष्यों की पहचान यह है कि वह अपनी जिन्दगी की कदर को जान कर किसी संसारी चीज के बदले में तो नहीं बेचते बल्कि दूसरे लोगों की तरक्की में अपने बेशकीमती समय को खर्च करते हैं, पस जो अपनी इज्जत, हुकूमत और नामवरी इत्यादि किसी किस्म की गर्ज को देख कर

संसार में काम करते हैं वह तो दुनियां के बन्दे और भोले मुसाफिर हैं, उनके पीछे लगना जिन्दगी को खराब करना है और जो लोग संसार से अलग और बन्देखुदा हैं जिनकी इन्द्रियाँ उनके इख्तियार में हैं और जो अपनी आत्मा को शरीर का राजा समझते हैं और तमाम इन्द्रियों और मन को उसकी खिदमत का साधन समझते हैं और उसके मार्ग अर्थात् धर्म के खोज में रात दिन लगे रहते हैं उनको वक्त से अधिक प्यारा सिवाय धर्म के और कोई चीज नहीं। वह किसी संसारी चीज के बदले अपनी जिन्दगी का प्यारा वक्त नहीं खोना चाहते हैं, उनके खयाल में तमाम दुनियां की चीजें तुच्छ हैं। वह आत्मा की उन्नति के सच्चे साधन का इल्म हासिल करके उसको पूरे तौर से करते हैं।

प्यारे पाठकगण ! अब आप सोच लें कि आप अपने आपको भोला मुसाफिर बना कर मार्ग में लुटवाना पसन्द करते हैं या अपनी जिन्दगी के उद्देश्य की तरफ चल कर सच्चे सुख को हासिल करना चाहते हैं, भोले मुसाफिर की तरह नशे की दशा में तो आपको संसार की ख्वाहिश अच्छी मालूम होगी लेकिन उसका नतीजा मिलने पर आप सिवाय अफसोस के और कुछ भी न कर सकेंगे इसलिये आपका फर्ज है कि उद्देश्य और मार्ग की तलाश के वास्ते वैदिक सूर्य्य की रोशनी को हासिल करें और इस रोशनी के सहारे बराबर अमल करते जावें जब तक कि आप उस मंजिल पर न पहुंच जावें जो शारीरिक जीवन का उद्देश्य है।

— — —

आत्म शिक्षा—१

नफा टोटा

प्रत्येक मनुष्य संसार में उन्नति की इच्छा और अवनति से घृणा करता है परन्तु बहुत थोड़े मनुष्य हैं जो उन्नति के मार्ग पर पहुंचे हों और बहुत ही कम ऐसे लोग मिलेंगे जो उन्नति के साधनों को यथार्थ रीति पर जानते हों, परन्तु इस दशा में भी बहुत से मनुष्य प्रसन्न दीखते हैं। क्या उन्होंने उन्नति के मार्ग को जान लिया है अथवा वह वहां पर पहुंच गये ? इसके उत्तर में शोक से कहना पड़ता है 'नितान्त नहीं'—अपितु बहुत अधोगति की दशा में आनन्दित हो रहे हैं। आप आश्चर्य से प्रश्न करेंगे कि किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि कोई मनुष्य असफलता (नाकामयाबी) अथवा अधोगति में आनन्दित हो—परन्तु अविद्या महारानी का ऐसा बलवान् प्रताप है कि मनुष्य हानि को लाभ जानकर प्रसन्न होते हैं। आप पुनः प्रश्न करेंगे—कि मनुष्य हानि को लाभ किस प्रकार समझ लेते हैं, इसका उत्तर यह है कि मूल (असल पूंजी) अर्थात् आत्मा के गुणों को न जानने से मनुष्य अपनी हानि को लाभ समझते हैं और ज्ञान की कमी से दुःख को सुख समझते हैं।

ईश्वर, जीव, प्रकृति

प्रश्न—आतमा शब्द से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—आत्मा शब्द का अर्थ व्यापक अथवा प्रत्येक अंग में रहने वाला है, जो जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये आता है। आत्मा शब्द का आशय कहीं ब्रह्म और कहीं जीव का होता है। अतः जीवात्मा और परमतमा भी कहते हैं।

प्र०—परमात्मा कैसा है ?

उत्तर—सत् स्वरूप अर्थात् नित्य जो काल और सीमा से बाहर हो उसको सत्स्वरूप कहते हैं।

चित् स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप है, जिसके ज्ञान में किसी प्रकार की निर्बलता हो ही नहीं सकती।

आनन्द स्वरूप अर्थात् प्रत्येक क्लेश से पृथक् और आनन्द से पूर्ण है। वह सत् है। अर्थात् उसका नाश कोई नहीं कर सकता। वह नित्य अर्थात् तीनों कालों में रहने वाला है। कूटस्थ अर्थात् सम्पूर्ण विकारों से पृथक् है और जड़ जगत् से पृथक् विचारने योग्य है, इत्यादि।

प्र०—जीवात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक शरीर में व्यापक सत् चित् स्वरूप और निराकार है। स्वरूप से सर्वव्यापक नहीं, किन्तु जाति से व्यापक, और स्वरूप से परिच्छिन्न और वह अनेक हैं, अतः एकदेशी होने से उसका ज्ञान भी एकदेशी और घटने-बढ़ने वाला है। ज्ञानोन्नति से जीवात्मा की उन्नति होती है, और ज्ञान की अवनि से जीवात्मा की अवनति होती है, जीव बाह्य ज्ञान और कर्म के लिये इन्द्रिय और शरीर के अधीन है। इन्द्रिय और शरीर के बिना जीवात्मा बाह्य ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता।

गुण या द्रव्य

विद्या, अविद्या, सत्य विद्या

प्र०—जीवात्मा के ज्ञान की उन्नति का क्या कारण है और अवनति का कारण क्या है ?

उत्तर—सत्य विद्या से जीवात्मा का ज्ञान उन्नति प्राप्त करता है और अविद्या से अवनति।

प्र०—सत्य विद्या गुण है अथवा द्रव्य।

उत्तर—विद्या गुण है।

प्र०—यदि सत्य विद्या गुण है तो किसका गुण है ?

उत्तर—सत्य विद्या परमात्मा के ठीक ज्ञान रूपी गुण का नाम है।

प्रश्न—सत्य विद्या जीवात्मा के ज्ञान का नाम क्यों नहीं कहा जावे। क्योंकि जीवात्मा का ज्ञान भी तो अनादि है।

उत्तर—जीवात्मा का ज्ञान दो प्रकार का है। एक स्वाभाविक अर्थात् अनादि, दूसरा नैमित्तिक अर्थात् उत्पत्तिमान्। इन दोनों को बुद्धि और विद्या के नाम से पुकारते हैं क्योंकि जीवात्मा का ज्ञान अल्प होने से सत्य अर्थात् अपरिवर्तनशील रहने वाला नहीं, इसलिए उसे सत्य विद्या नहीं कह सकते और न ही जीवात्मा सत्यविद्या—अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के विना सत्य अर्थात् अविनाशी पदार्थों को जान सकता है, अतएव उसका ज्ञान सत्य नहीं कहला सकता, क्योंकि जितने पदार्थ तीनों काल में रहने वाले हैं, वह कारण रूप अर्थात् सूक्ष्म हैं। जिनका ज्ञान पञ्चेन्द्रियों से नहीं हो सकता है, और मन स्वयं सत्य विद्या के स्वाधीन है।

प्रश्न—अविद्या जिससे जीवात्मा के ज्ञान को हानि पहुंचती है, वह द्रव्य है अथवा गुण है ?

उत्तर—अविद्या भी गुण है।

प्रश्न—अविद्या किसका गुण है।

उत्तर—अविद्या जीवात्मा की अल्पज्ञता से और प्रकृतिजन्य अनन्त विकारों के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। यह जीवात्मा का नैमित्तिक गुण है जो प्रकृति के बने हुए पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

प्रश्न—अविद्या यदि उत्पन्न होती है तो कार्य है। परन्तु बहुत से महात्माओं—जैसे शंकराचार्यादि—ने अविद्या को अनादि माना है, उत्पत्तिशील पदार्थ अनादि कैसे हो सकते हैं ?

सान्त, अनन्त, अज्ञ, अल्पज्ञ, तत्वज्ञ, सर्वज्ञ

उत्तर––आदि और अन्त दो प्रकार से होता है। एक प्रवाह–– अर्थात् अनादि क्रम से।

द्वितीय—विद्यमान स्वरूप से। निदान अविद्या प्रवाह से अनादि है और स्वरूप से उत्पत्ति वाली है। द्वितीय––महात्मा शंकराचार्य ने जो अविद्या को जन्य न मानकर अनादि माना है! उनका अभि-प्राय अविद्या के अधिकरण प्रकृति से है, अर्थात् जीव, ब्रह्म और प्रकृति यह अनादि हैं। ब्रह्म सर्वज्ञ, जीव अल्पज्ञ और प्रकृति अज्ञ है। जीव ब्रह्म के साथ जब तन्मय हो जाता है अर्थात् उसकी उपासना करता है तो उससे जीव अल्पज्ञ से तत्वज्ञ हो जाता है और जब प्रकृति की उपासना करता है तो मिथ्याज्ञान के उत्पन्न होनें से मिथ्या ज्ञानी बन जाता है। यही जीव की हानि और लाभ है। अल्पज्ञ जीव का तत्त्वज्ञ हो जाना उसकी उन्नति है और मिथ्याज्ञान वाला होना उसकी अवनति है।

जीव कैसा है ? अणु या विभु ?

प्रश्न—बहुत से लोग जीव को अणु मानते हैं और बहुत से विभु मानते हैं इनमें से ठीक कौन-सा है ?

उत्तर—अणु तो नहीं किन्तु शरीर में व्यापक है और 'स्वरूप से विभु' नहीं किन्तु 'जाति से विभु' है।

प्रश्न—जीव के अणु होनें में बहुत से प्रमाण हैं जैसा कि उप-निषद् में लिखा है—

बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीव स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

अर्थ––यदि बाल की नोक के सौवें भाग को सौ पर भाग देवें तो वह बाल का दस हजारवाँ भाग जीव होगा अर्थात् जीव इतना छोटा होगा, जिससे जीव का अणु होना स्पष्ट ज्ञात होता है।

उत्तर—यह श्रुति जीव के अणु प्रमाण होने का प्रमाण नहीं, किन्तु उसके सूक्ष्म होने का प्रमाण है। यदि जीव का अणु प्रमाण माना जावे तो इस श्रुति और सब शास्त्रों से—जिन्होंने जीव को पुरुष और आत्मा कहा है, उनके—विरुद्ध होगा। जैसे ब्रह्म को कहा था, कि वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और बड़े से भी बड़ा है। जो अणु का अर्थ उस जगह है वही जीव के विषय में समझना चाहिये। क्योंकि इस श्रुति ने जीव को शरीर में व्यापक माना है। [देखो छान्दोग्य उपनिषद् छापा काशी पृष्ठ ७७]

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति अथ सा शुष्यति ॥

जीव जब इस शरीर के एक भाग को त्याग देता है तब वह भाग शुष्क हो जाता है और जब दूसरे को त्यागता है तो दूसरा भी सूख जाता है, जब कुल को त्याग देता है तब कुल शुष्क हो जाता है। जीव के किसी भाग को छोड़ देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह वहाँ पहले विद्यमान था। अणु जीव शरीर के एक भाग में रहेगा, दूसरे भाग में नहीं रह सकता। अतः जीव को सारे शरीर में व्यापक मानना चाहिए।

दुरूह शङ्का-समाधान

प्रश्न—यदि जीव को शरीर में व्यापक माना जावे तो मध्यम परिमाण वाला मानना पड़ेगा, जिससे जीव अनित्य माना जावेगा। द्वितीयः—जीव में संकोच और विकास मानना पड़ेगा, अतः जीव को अणु और विभु ही मान सकते हैं, परन्तु जीव को विभु मानने में एक मानना पड़ेगा न कि बहुत से, पर जीव नाना अर्थात् बहुत से हैं, अतः जीव स्वरूप से तो विभु हो ही नहीं सकता, इसलिए अणु मानना ही ठीक है। और जिन श्रुतियों में जीव को शरीर में व्यापक बतलाया है, वहां जाति से व्यापक नहीं किन्तु स्वरूप शक्ति से व्यापक माना है।

उत्तर—मध्यम परिमाण वाला होना अनित्य होने का कारण नहीं, किन्तु सावयव और साकार होना अनित्य का कारण है, क्योंकि जीव निराकार है अतः अनित्य नहीं हो सकता। और संकोच पृथ्वी का धर्म होने से पार्थिव द्रव्यों में होता है, निराकार जीव पृथ्वी से बना हुआ नहीं, इसलिए उसमें संकोच नहीं। और विकास आकाश का धर्म है क्योंकि जीव के सूक्ष्म और निराकार होने से उस के अन्दर आकाश नहीं अतः उसमें विकास नहीं।

गुण और गुणी का सम्बन्ध

यदि तुम संकोच 'विकास को' अपनी भूल से जीव में मान कर अनित्य कहोगे तो यह दोष 'शक्ति' के व्यापक होने पर भी रहेगा। क्योंकि शक्ति में संकोच, विकास मानना ही पड़ेगा। यदि शक्ति को गुण मानोगे तो गुण के साथ गुणी का सर्वदा सम्बन्ध रहता है, गुण के नाश से गुणी का भी नाश होता है, ऐसी शक्ति के संकोच विकास से जीव में संकोच विकास आ जायेगा।

प्रश्न—यदि आत्मा को अणु माना जावे और शक्ति को शरीर में व्यापक समझा जावे तो क्या दोष है ?

उत्तर—तो ऐसे ही परमात्मा को एक देशी मानकर भी उसकी शक्ति को जगत् में व्यापक कह सकते हैं, परन्तु उसमें दोष है क्योंकि शक्ति का प्रभाव समीप में अधिक होता है, दूरी पर कम होता है। जैसे-जहां अग्नि जलती है—उसका प्रभाव समीप वालों पर अधिक होता है और दूर वालों पर कम। जिस देश-स्थान में जीवात्मा मानोगे उस देश में ज्ञान और क्रिया अधिक होगी और द्वितीय भाग में कम। चींटी आदि कृमियों के शरीर में बहुत अधिक और मनुष्य के शरीर में बहुत कम। और अन्य छोटे कृमि, जूँ और चींटी इत्यादिक जीवों के शरीर में अधिक ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि एक देशी वस्तु की शक्ति का हम यह नियम पाते हैं कि जितनी अधिक देश में

फैली हो उतना ही प्रकाश भी अधिक कमजोर प्रतीत होता है इसके अतिरिक्त जीव और ईश्वर दोनों के लिये शरीर और जगत् में कोई स्थान स्थापित करना पड़ेगा, और उस शक्ति का रुक जाना भी सम्भव हो जायेगा, क्योंकि उसमें व्यवधान हो सकता है। इस प्रकार के अनेक दोष आजावेंगे जिनका समाधान करना कठिन होगा। इस के अतिरिक्त वेद, उपनिषद् और दर्शनों का भी खण्डन होगा।

प्रश्न—जिस प्रकार ईश्वर को सूक्ष्म समझ कर उसको सर्वव्यापक माना जाता है यदि उसके गुणों को सर्वव्यापक माना जावे और उसको एकदेशी माना जावे तो कोई दोष नहीं आता क्योंकि जिस ज्ञान और क्रियाशक्ति को काम करना है वह दोनों दशाओं में बराबर है। अर्थात् ब्रह्म के सर्वव्यापक होने पर भी वह शक्ति सर्वव्यापक है और ब्रह्म की शक्ति को सर्वव्यापक मानने पर भी वह शक्ति सब जगह पर है। और ब्रह्म की शक्ति को सर्वत्र उपस्थित मानने से भी वह सर्वत्र उपस्थित मालूम पड़ेगी।

अतीन्द्रिय और प्रत्यक्ष

उत्तर—किसी एकदेशी वस्तु की शक्ति सर्वव्यापक नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म को शक्ति का विभु होना प्रत्यक्ष प्रमाण से तो जाना ही नहीं जाता—अनुमान ही करना पड़ेगा। अनुमान व्याप्ति-ज्ञान से होता है, व्याप्ति प्रत्यक्ष से होती है, जबकि प्रत्यक्ष में कोई एकदेशी वस्तु अनन्तत्व का गुण धारण नहीं रख सकती इसलिये ब्रह्म को एकदेशी मानकर उसकी शक्ति को अनन्त मानना ठीक नहीं।

प्रश्न—अनुमानादि प्रमाणों को ब्रह्म की शक्ति पर लगाना ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं तो उसकी शक्ति किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकती है, परन्तु ब्रह्म को अप्रमेय अर्थात् प्रमाणों की शक्ति से बाहर बतलाया गया है अतः उनकी शक्ति का प्रमाणों से खोज करना ठीक नहीं।

उ०—प्रथम तो ब्रह्म की सत्ता में शास्त्र प्रमाण है और उसमें उस की शक्ति का विचार भी पाया जाता है अतः ब्रह्म को प्रमाणों से अतीत बतलाना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। और योगियों को ब्रह्म का मानसिक प्रत्यक्ष भी होता है, जिसका विचार सांख्य शास्त्र ने किया है, और न्यायशास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति से उसका अनुमान भी किया गया है। अतः ब्रह्म शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष का विषय है परन्तु उसका ज्ञान करने के लिए अधिकारी की आवश्यकता है। जो उसके जानने का अधिकारी है उसी को उसका ज्ञान होता है।

प्रश्न—यदि प्रमाणों से जानने योग्य होता तो उसको अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति से परे क्यों कहा जाता? अब रहा शब्द-प्रमाण, सो ब्रह्म के गुणों को बहुत ही कम प्रकट करता है किन्तु 'नेति-नेति' वाक्यों से दूसरों को पृथक् कर बतलाता है कि वह ब्रह्म इससे अलग है, परन्तु यह ब्रह्म है, और यह उसके गुण और स्वरूप हैं—ऐसा वेद से भी स्पष्ट प्रकट नहीं होता। रहा मानसिक प्रत्यक्ष, उसके प्रमाण होने में ही झगड़ा है।

उत्तर—अतीन्द्रिय कहने का यह अर्थ है कि वह इन पंचज्ञानेन्द्रियों से नहीं जाना जाता न कि उसके होने में कोई प्रमाण नहीं, अतीन्दिय का यह अभिप्राय है और शब्दप्रमाण ही से तो ब्रह्म के स्वरूप और लक्षणों का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप वेद ने बतलाया है और वेदान्तदर्शन में आरम्भ ही से ब्रह्म के लक्षणों का विचार किया है। जैसा लिखा है कि जिससे सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होती है उसको ब्रह्म कहते हैं। इससे ब्रह्म की शक्ति को प्रकट कर उसके तटस्थ लक्षण का वर्णन कर दिया। पुनः तीसरे सूत्र में कहा है कि ऋग्वेदादिकों के उत्पन्न करने से ब्रह्म की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र में ईश्वर की सिद्धि प्रमाण के साथ-साथ की है, और ब्रह्म को सर्वव्यापक ही सिद्ध किया है। रहा मानसिक प्रत्यक्ष—उसके विषय में उपनिषदों का प्रमाण जहाँ पर

लिखा है कि यह आत्मा ब्रह्म है इस बात का प्रमाण है कि योगी को जब समाधि की दशा में ब्रह्म का साक्षात् होता है तब वह कहता है कि मेरे अन्दर जो व्यापक आत्मा है। यही ब्रह्म है अतः मानसिक प्रत्यक्ष का होना सिद्ध है।

ब्रह्मज्ञान में रोग और स्वास्थ्य

अतः ब्रह्मज्ञान का जो अधिकारी होता है उसको ब्रह्मज्ञान होता है और जो मल, विक्षेप, आवरण दोषों से युक्त धन उपासना और आरामतलबी आलस्यादिक बीमारियों से ग्रसित होता है उसको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। जब तक कि वह इन रोगों को दूर करके स्वस्थ न हो जावे। इन रोगों को दूर करने का साधन वेदों में लिखा है। अतः जो लोग वेद को पढ़ कर उसके अनुसार चलते हैं वह रोगों से रहित हो जाते हैं। उन्हीं को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझना चाहिये और जो लोग लोभी, आलसी और अत्याचारी होते हैं वह धर्मोपदेश के अधिकारी नहीं होते, जैसा कि भगवान् मनु ने लिखा है।

अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

अर्थ—जो धन और दुनियां की कामनायें न रखते हों उनको धर्म के जानने का अधिकार है, और जो धर्म के जानने की इच्छा रखते हों उनके लिये श्रुति अर्थात् वेद ही सबसे बढ़ कर प्रमाण है।

—०—

आत्म शिक्षा—२

वासनाएं

प्रश्न—ब्रह्म के जाने में जो मल विक्षेप और आवरण आदि दोष बतलाये गये हैं उनके दूर करने का क्या उपाय है और उनका लक्षण क्या है?

उत्तर—दोष अथवा दुर्वासना को मल कहते हैं। जब मन में दूसरों को हानि पहुंचाने का विचार होता है तब मनुष्य चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि मलीन कामों में रात दिन लगा रहता है। ऐसी दशा में उसे ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि मन का यह स्वभाव है कि वह एक समय में दो ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और मन में जिस विषय के संस्कार अधिक विद्यमान होते हैं, अथवा जो संस्कार उद्भूत अर्थात् ऊपर प्रकट रूप में होते हैं मन का विचार उसी ओर चलता है।

इसी कारण 'मल' दोष वाले का मन ईश्वर की ओर लग ही नहीं सकता। मन को ईश्वर की ओर लगाने के लिये सबसे प्रथम उसे परोपकारादि की ओर लगाकर उसमें उत्तम संस्कार उद्भूत करना उचित है क्योंकि जब तक उत्तम संस्कार उद्भूत न होंगे तब तक उपदेश से पूर्ण लाभ न हो सकेगा।

एषणाएं

प्रश्न—हम किस प्रकार जान सकते हैं कि मन में उत्तम संस्कार उद्भूत हो गये, क्योंकि मन की दशाओं को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते ?

उत्तर—जब तीन प्रकार की एषणाओं से निवृत्त हो जावे उस समय समझ लेना चाहिये कि मन के उत्तम संस्कार उद्भूत हो गये और कुसंस्कार दब गये।

प्रश्न—तीन प्रकार की एषणाएं कौन-सी हैं ?

उत्तर—पुत्रैषणा अर्थात् पुत्र की इच्छा, वित्तैषणा अर्थात् धन की इच्छा और लोकैषणा अर्थात् अपनी कीर्ति की इच्छा। जब तक मन में बुरे संस्कार रहते हैं तब तक यह इच्छाएं रहती हैं और जब मन के कुसंस्कार दब जाते हैं तब उनके साथ ये इच्छाएं भी दब जाती हैं।

निवृत्ति के लिए क्रम

प्रश्न—इन तीन प्रकार की एषणाओं से निवृत्ति मिलने और संस्कारों के दब जाने का क्या उपाय है ?

उत्तर—'वेदोक्त कर्मकाण्ड' को निष्काम अर्थात् निःस्वार्थभाव से अपना धर्म समझकर करना ही इस रोग की चिकित्सा है। जब वेदोक्त कर्म निष्काम भाव से किए जाएंगे तब यह वासनादिक बुराइयां भी स्वयं निवृत्त हो जावेंगी। अतः प्रथम वेद पढ़ना, तत्पश्चात् उस के अनुसार निष्काम कर्म करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है।

निष्काम कर्म और भोग

प्रश्न—जबकि यह नियम है कि कोई मूर्ख से मूर्ख मनुष्य विना फल की इच्छा के काम नहीं करता और जहाँ से काम निकलता दिखाई देता है वहीं काम किया जाता है, तो ऐसी दशा में निष्काम कर्म करना मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है और जो प्रकृति के विरुद्ध हो उसका होना ही असम्भव है।

उत्तर—यहाँ काम का आशय 'भोग के बदलने की इच्छा' है। और वहाँ पर कर्त्तव्य-पालन है। अर्थात् वर्तमान भोग की इच्छा न रख कर केवल आत्म-सुधार के निमित्त जो कर्म किया जाता है वह निष्काम ही कहलाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष में उससे कोई लाभ नहीं, केवल आस्तिकभाव से भविष्य के लिए उसे अपना कर्त्तव्य समझकर किया गया है। काम अथवा इच्छा लाभदायक के प्राप्त करने में होती है, जो काम सुधार के निमित्त करता है वह लाभप्रद को प्राप्त करना नहीं चाहता, किन्तु आत्मा में जो बुराइयाँ हैं—उनसे द्वेष करता हैं, अतः जो कर्म वर्तमान शारीरिक सम्बन्ध और कीर्ति आदि की इच्छा से रहित हों वह निष्काम ही कहलाते हैं। जब निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध हो जावे तत्पश्चात् विक्षेप दोष को दूर करने का प्रयत्न करना उचित है।

प्रश्न—जब अन्तःकरण अर्थात् मन शुद्ध हो गया तो फिर क्या कर्तव्य होगा ?

उत्तर—अन्तःकरण के शुद्ध होने से नित्य और अनित्य वस्तु के विचारने की शक्ति प्राप्त हो जावेगी। उससे प्रत्येक समय विवेक करना उचित है। अर्थात् इस बात का विचार करना उचित है कि आत्मा के लिए सुखप्रद और नित्य वस्तु क्या है, और अनित्य तथा दुःखप्रद कौन है।

प्रश्न—क्या अन्तःकरण के शुद्ध हुए विना विवेक नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार शुद्ध दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है और मलिन में नहीं, इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में विवेक उत्पन्न होता है, मलिन में नहीं।

प्रश्न—अनित्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसकी उत्पत्ति और नाश हो उसे अनित्य कहते हैं, जैसे घड़ा।

प्रश्न—नित्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो इसके विपरीत हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति और नाश सम्भव न हो वह नित्य है। इस कारण शरीर, अन्तःकरण, इन्द्रिय और जीवात्मा तथा संसार की वस्तुओं में नित्य अनित्य का विचार करना ही विवेक कहलाता है।

प्रश्न—विवेक होने के पश्चात् क्या फल होगा ?

उत्तर—विवेक होने से वैराग्य उत्पन्न होता है।

प्रश्न—वैराग्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसके मन में संसार के बड़े राज्य-सुख की इच्छा नहीं रहती। जैसे वमन किये हुए को कोई नहीं चाहता, इसी प्रकार

वैराग्य होने पर संसार के राज्य और विषयों की इच्छा नितान्त जाती रहती है।

वैराग्य और छः साधन

प्रश्न—वैराग्य से क्या होता है ?

उत्तर—शम, दमादिक छः साधन प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—छः साधनों का पृथक्-पृथक् लक्षण क्या है ?

उत्तर—जिससे अन्तःकरण को विषय से पूर्ण घृणा हो जाने के कारण मन एकान्त हो उसे शम अथवा शान्त कहते हैं।

प्रश्न—दम किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसकी इन्द्रियां विषयों से सर्वदा भिन्न रहें उसे दान्त अर्थात् दमयुक्त करते हैं। जिसके बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की इन्द्रियां विषयों से नितान्त पृथक् रहें उसे उपरत कहते हैं।

प्रश्न—तितिक्षु अथवा सहनशील किसे कहते हैं ?

उत्तर—सुख, दुख, भय, निर्भयता, हानि, लाभ, जय, पराजय, निन्दा और स्तुति से रहित अर्थात् उनमें न फंसने वाला हो, उसे तितिक्षु कहते हैं।

प्रश्न—मुमुक्षु किसे कहते हैं ?

उत्तर—इस प्रकार के अधिकारी को—जिसकी दृष्टि में मुक्ति के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु तुच्छ हो उसे—मुमुक्षु, मोक्ष का इच्छुक कहते हैं।

प्रश्न—मोक्ष का अधिकारी किस प्रकार होता है ?

उत्तर—जब कर्मकाण्ड से मन को शुद्ध करके ब्रह्मोपासना द्वारा मन को स्थिर करके नित्य-अनित्य का विचार करता है तब वह ब्रह्म के जानने का अधिकारी अर्थात् मुक्ति के योग्य होता है। जब तक अधिकारी न हो उसे ब्रह्म का ज्ञान हो ही नहीं सकता। यही कारण

है कि आजकल लाखों करोड़ों मनुष्य अपने चित्त के बिगड़ने से ईश्वर के अस्तित्व तथा उसकी कृपा और शक्ति को नहीं मानते। यदि उलूक को सूर्य नहीं दीखता तो इसमें उलूक के नेत्रों का दोष है या सूर्य का। प्रत्येक मनुष्य यही कहेगा कि सूर्य के कारण तो मनुष्य देखते हैं। ऐसी दशा में उसका दोष कैसे हो सकता है? निस्संदेह सूर्य के उदय में—जबकि सब देखते हैं—उलूक ही नहीं देखता, अतः उसी का दोष है।

तीनों दोषों से निवृत्ति

प्रश्न—जब इन साधनों से मनुष्य पार हो जावे तो क्या होगा?

उत्तर—मल और विक्षेप यह दो दोष—जो मनुष्य को ब्रह्मज्ञान के पश्चात् मुक्त होने से रोकते थे वह दूर हो गये, केवल एक आवरण दोष शेष रह गया। अब जीवात्मा इस योग्य हो गया कि आवरण दोष को दूर करके ब्रह्म को जान ले। उसे अब ब्रह्म के जानने की योग्यता हो जाने के कारण उसके जानने की तेज भूख अर्थात् इच्छा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि उसने वेदों का पठन करते समय यह सुन लिया था कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है। अब ज्ञान के लिए श्रवण मनन निदिध्यासन की आवश्यकता होती है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन

प्रश्न—श्रवण किसे कहते हैं? उत्तर—ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु से ब्रह्म के गुणों का श्रवण करना। जैसा कि श्रुतियों में है कि जो स्वयं ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्त होकर, संसार को तुच्छ समझ, कोई कामना नहीं रखता, वही गुरु हो सकता है। टकापंथी अज्ञानी स्वार्थी गुरु कहलाने के योग्य नहीं, और न ही ऐसा उनका उपदेश श्रवण के अन्तर्गत हो सकता है।

प्रश्न—जबकि कर्मकाण्ड से प्रथम ही वेद पढ़ लिये थे, तथा वह

उपदेश जिससे ब्रह्मज्ञान होता है, वेदों के अन्तर्गत होने के कारण, पूर्व ही शिष्य नें सुन लिया था, फिर दुबारा उपदेश की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जब प्रथम वेद पढ़ा था उस समय कर्म और उपासना के न होने के कारण मल विक्षेप का रोग, जो सैकड़ों जन्म के संस्कारों से उत्पन्न हो चुका है, निवृत्त नहीं हुआ था, अतः ब्रह्मज्ञान का अधिकारी न होने से उस समय के उपदेश से ज्ञान भी नहीं हुआ था, और जब ज्ञान न हुआ तो दुबारा सुनने की आवश्यकता बनी ही रही।

प्रश्न—क्या दुबारा श्रवण से ज्ञान हो जावेगा ?

उत्तर—जब छः प्रकार के लिङ्गों के साथ वेदों के वाक्यों का अर्थ विचारा जावेगा।

छः लिंग

प्रश्न—वह छः लिंग जो अर्थ जानने के लिए हैं कौन से हैं ?

उत्तर—उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिंगतात्पर्य-निर्णये ॥

अर्थ—"उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति अर्थात् युक्तियों से अन्वेषण करना यह किसी श्रुति अर्थात् वेदमन्त्र के जानने के लिंग हैं।

प्रश्न—'उपक्रम' किसे कहते हैं ?

उत्तर—किसी विषय के सम्बन्ध में जितने बाह्य साधन आवश्यक हों, उनको मिलाकर उसका वर्णन करना उपक्रम कहाता है, जो बहुधा भूमिका के रूप में वर्णित होता है।

प्रश्न—'उपसंहार' किसे कहते हैं ?

उत्तर—अन्तिम परिणाम जिससे निकाला जाता है उसे उप-

संहार कहते हैं। जैसे कि कहा जाता है कि "यह आशय है।"

प्रश्न—'अभ्यास' किसे कहते हैं ?

उत्तर—विषय को बारम्बार विचारना तथा उसकी सूक्ष्मता को जानने का प्रयत्न करना, इसका नाम अभ्यास है।

प्रश्न—'अपूर्वताफल' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो फल पहिले प्राप्त हो अर्थात् प्रत्यक्ष फल पर ही दृष्टि न हो, वरन् उसके सूक्ष्म तथा अपरोक्ष फलों का भी विचार करना अपूर्वताफल कहलाता है।

प्रश्न—'अर्थवाद' किसे कहते हैं ?

उत्तर—उसके विशिष्ट गुणों का यथार्थतः वर्णन करना अर्थात् जो गुण औरों से अधिक हो उसका भी वर्णन करना अर्थवाद कहाता है, इसे अत्युक्ति भी कहते हैं।

प्रश्न—उपपत्ति अर्थात् युक्तियों से देखने का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिस कारण कि अनुमान बहुत से साधनों द्वारा करना पड़ता है, अतः अतिव्याप्ति आदिक दोषों का परिहार और उसके छः भागों के सम्बन्ध से विचार करना आवश्यक है।

भावनाएँ

प्रश्न—जब श्रवण से ज्ञान होकर मुक्ति होवेगी तब ?

उत्तर—यद्यपि श्रवण से आत्मज्ञान हो जायगा, जो मुक्ति का कारण है तथापि यदि मनुष्य बुद्धिहीन होगा, तब उसको ज्ञान नहीं होगा। वरन् उसे 'असम्भावना' तथा 'विपरीत भावना' दो प्रकार के संशय उत्पन्न हो जावेंगे जिनके कारण मनन को आवश्यकता है।

प्रश्न—'असम्भावना' किसे कहते हैं ?

उत्तर—यद्यपि सहस्रों श्रुतियों से विदित होता है तथापि शरीर

और इन्द्रियों से पृथक् आत्मा की सत्ता को बुद्धि नहीं मानती। इस प्रकार का विचार 'असम्भावना' है।

प्रश्न—'विपरीत भावना' किसे कहते हैं ?

उत्तर—'बहुधा सुनने और विचारने पर भी अनात्म पदार्थों को आत्म तथा आत्म को अनात्म समझना, इस प्रकार का ज्ञान 'विपरीत भावना' है। इनमें से असम्भावना को दूर करने के निमित्त श्रवण के पश्चात् मनन होना आवश्यक है।

प्रश्न—मनन किसे कहते हैं ?

उत्तर—गुरुओं की वाणी द्वारा जो कुछ वेदार्थ सुना है उसको युक्तियों द्वारा पूर्णतया सिद्ध करके हृदय पर अंकित करने से असम्भावना को दूर करना होता है। जिस प्रकार कोई गंवार मनुष्य चन्दन को चन्दन नहीं मानता तो उसको घिस कर या अन्य उपाय से दिखा देते हैं। इसी प्रकार बुद्धिहीन व्यक्ति आत्मा की सत्ता को नहीं मानता उसे युक्तियों द्वारा विश्वास करा देते हैं।

प्रश्न—'विपरीत भावना' को दूर करने का क्या उपाय है ?

उत्तर—निदिध्यासन से विपरीत भावना दूर हो सकती है। विना निदिध्यासन के इसका दूर होना सम्भव नहीं।

प्रश्न—निदिध्यासन किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो आत्मा बहुत-सी श्रुतियों और युक्तियों से सिद्ध हुआ है, 'बस यही आत्मा है' इस प्रकार का अटल विचार निदिध्यासन है।

प्रनश—क्या आत्मज्ञान हो जाने पर संसारी कामों में मनुष्य फँसा रहेगा अथवा नहीं !

उत्तर—जिसको आत्मा का साक्षात् अर्थात् मानसिक प्रत्यक्ष न होगा वह तो श्रवणादि द्वारा ज्ञान होने पर भी संसार में फंसा हुआ दिखलाई देगा।

प्रश्न—हम आत्मा के साक्षात् होने पर बहुतों को भी संसार में फँसा हुआ रहते देखते हैं।

उत्तर—यदि ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध-कर्म शेष रहे तो उसके भोगने के लिये ज्ञानी को भी उतने दिन तक शरीर में रहना पड़ेगा। क्योंकि और प्रकार के शेष कर्म तो ज्ञान से नाश हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म भोगने ही से नाश होते हैं।

प्रश्न—जब कर्मों का कारण मिथ्या ज्ञान नाश हो गया तो उसके कार्य प्रारब्ध का नाश अवश्य हो जाना चाहिये, नहीं तो कर्मों का तनिक भी नाश न होना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि कारण के नाश होने से कार्य का भी नाश हो जाता है।

उत्तर—क्या उपादान कारण के नाश से उसके कार्य का नाश हो जाता है प्रत्येक कारण के नाश होने से कार्य का नाश होने का नियम नहीं है। जैसे रज्जू में सर्प का ज्ञान होने से कोई मनुष्य डर कर भागा और उसे चोट लग गई। अब प्रकाश आ जाने के कारण सर्प का ज्ञान तो दूर हो गया परन्तु उसके दूर होने से वह चोट दूर नहीं हो सकती।

—०—

हम मृत्यु से क्यों डरते हैं ?

मृत्यु क्या वस्तु है ?

ऐसा संसार में कौन सा प्राणी है जिसे मृत्यु से भय न लगता हो यद्यपि प्रकट में मनुष्य मृत्यु के लक्षणों से अनभिज्ञ हैं और नहीं जानते कि मृत्यु क्या है, परन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस पदार्थ के गुणों को हम न जानें उससे हमें भय लगे क्योंकि भय सर्वदा जानी हुई वस्तु से होता है चाहे उसका ज्ञान अनुमान से हो वा प्रत्यक्ष से; परन्तु भय होता प्रत्येक दशा में भयङ्कर वस्तु के ज्ञान

से ही है। मृत्यु का भय ऐसा नहीं जो केवल दीन और निर्बलों ही को दुःख देता हो, किन्तु बड़े-बड़े शूरवीर राजा महाराजा मृत्यु के नाम से कांपते हैं। अब प्रश्न यह है कि मृत्यु है क्या ? इसके उत्तर में छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है :--

यस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति हो वाच ॥

छां० खं० ११।२

अर्थ—जब इस शरीर के एक भाग को जीव छोड़ देता है तो वह भाग सूख जाता है, जब दूसरे को छोड़ देता है तो वह सूख जाता है, जब तीसरे को छोड़ देता है तो वह भी सूख जाता है और जब सम्पूर्ण को छोड़ देता है तो समस्त ही सूख जाता है--

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति ॥

छां० ६।७

अर्थ--जीव के देह से पृथक् हो जाने पर यह देह मर जाता है, जीव नहीं मरता है।

उपर्युक्त उपनिषद् वाक्य से विदित होता है कि जीव और देह के वियोग का नाम मृत्यु है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या कारण है कि जीव और देह के वियोग से मनुष्य को दुःख प्रतीत होता है। क्या जीव और देह का स्वाभाविक संयोग है कि जिसके टूटने से जीव को हानि पहुंचती है वा देह की जीव को किसी कार्य के लिये आवश्यकता है कि जिसके न होने से जीव को कष्ट होता है ? उपनिषदों में जो जीव और देह का सम्बन्ध बताया है उससे यह प्रश्न भी हल हो जाता है, देखो कठोपनिषद्--

आत्मानं रथिनं सिद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

अर्थ--आत्मा को रथ में बैठने वाला स्वामी और देह को रथ समझना चाहिये । इन्द्रियां इस रथ के घोड़े और मन घोड़ों की बाग है, बुद्धि सारथी है और जितने विषय हैं ये इस गाड़ी और घोड़े के चलने के मार्ग हैं ।

क्या यात्री सवारी से उतरेगा नहीं ?

उपनिषद्कार के अलङ्कार से यह बात सिद्ध हो गई कि यह इन्द्रियाँ इस आत्मा को ज्ञान की मंजिल [उद्देश्य] पर पहुंचाने वाले घोड़े और शरीर गाड़ी है । अब यह प्रश्न उठता है कि यदि देह को सचमुच गाड़ी मान लें और आत्मा को यात्री तो यात्री को किस दशा में गाड़ी के त्यागने पर कष्ट होता है ? अब विचार करते हैं तो पता चलता है कि यात्री को जो प्रेम गाड़ी से होता है सो स्वाभाविक नहीं होता वरन् प्रयोजन-सिद्धि के कारण होता है । यात्री यह समझ कर कि गाड़ी द्वारा आनन्दपूर्वक अपने नियत स्थान की ओर जा सकता हूं और विना गाड़ी के नहीं, गाड़ी की मरम्मत आदि का ध्यान रखता है, उसकी सफाई आदि का यत्न करता है और उस समय तक ही उसमें चढ़ा रहना चाहता है जिस समय तक कि अपनी यात्रा को पूर्ण नहीं कर लेता, जहाँ अपने नियत स्थान पर पहुँच जाता है वहीं गाड़ी को स्वयं त्याग देता है । प्रत्येक गाड़ी का स्वामी अपनी गाड़ी से इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रेम रखता है । कतिपय मनुष्यों को यह शङ्का होगी कि बहुधा मनुष्य गाड़ी को बुरा समझ कर मार्ग में ही छोड़ देते हैं । इसका यह समाधान है कि जिस समय यात्री को उस गाड़ी से उत्तम गाड़ी मिलने की आशा हो तो वह यह सोच कर कि एक गाड़ी के बदले दूसरी गाड़ी में चढ़ कर मैं अपनी मंजिल [उद्देश्य] पर शीघ्र

पहुँच जाऊँगा पहिली गाड़ी को त्यागने को उद्यत हो जाता है, परन्तु यदि उसे दूसरी गाड़ी के मिलने की आशा न हो तो उसे गाड़ी को त्यागना कष्टदायक होता है। इस बात का आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं क्योंकि जिस समय हम रेल में बैठ कर कहीं जाते हैं तो उद्देश्य के आने के पूर्व ही गाड़ी को छोड़ने का प्रबन्ध करते हैं, अपना सामान बटोरते हैं और जहाँ स्टेशन आया झट उतरने की ठहरा देते हैं। ऐसे समय यदि कुंजी आदि लगी होने के कारण गाड़ी छोड़ने में कुछ देर हो तो चित्त बहुत ही बिगड़ जाता है, कभी बाबू को पुकारते हैं तो कभी कुली से कहते हैं कि कुंजी लाना और यदि १०-५ मिनट भी देर हो जाय तो बस पिछले द्वार से ही दौड़ पड़ते हैं, परन्तु यदि कोई मनुष्य उद्देश्य के बीच में ही हमें उतार दे तो उससे लड़ने लगते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि जिस स्थान पर पहुंचने के लिये यह शरीर दिया गया है यदि उस स्थान की प्राप्ति हो जावे तो शरीर के नष्ट होने से कष्ट नहीं होता। इस बात का प्रमाण उन लोगों की मृत्यु से भी मिलता है जिन्होंने कि ईश्वर भक्ति को अपने जीवन का उद्देश्य बना रक्खा है।

जीवन मुक्त की दशा

जिन्होंने गंगा-किनारे घूमने वाले स्वामी पूर्णाश्रम जी के जीवन और मृत्यु को देखा है उन्हें पूर्ण विश्वास होगा कि इस प्रकार के जीवन-मुक्त ईश्वर के भक्त मृत्यु का तनिक भी भय नहीं रखते, किन्तु ये तो मृत्यु से प्रसन्न होते हैं और उनको मृत्यु से भय भी क्या? कतिपय मनुष्य यह आक्षेप करते हैं कि जब मृत्यु की इच्छा कोई नहीं करता तो जीवन-मुक्त जो सबसे अधिक ज्ञानी हैं, मृत्यु की क्यों इच्छा करते हैं? इसका उत्तर यह है कि वे इस मनुष्य शरीर को कर्त्तव्य और भोक्तव्य योनि अर्थात् करने में स्वतन्त्र तथा भोगने में परतन्त्र देह समझते हैं, कर्त्तव्य के नाते वे इस शरीर को संसार-

सागर से पार होने के लिए एक जलयान समझते हैं। जिस प्रकार कि मनुष्य नौका में बैठकर नदी से पार चला जाता है और यावत् कि वह नदी से पार नहीं होता तावत् नाव के छूटने से दुःख मानता है परन्तु जहाँ नदी से पार हुआ कि तुरन्त ही नौका पर से उतर जाता है। उस समय उसे नाव में बैठना भयंकर प्रतीत होता है, कारण यह कि यावत् वह नौका में बैठा है तावत् नदी पार नहीं हुआ वरन् नदी के भीतर है और ऐसी अवस्था में थोड़ा-बहुत भय बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि उल्टी हवा (विपरीत वायु) वा आँधी आदि के आने से नौका नदी की तह में पहुँच जावे अतः प्रत्येक बुद्धिमान् उस समय तक ही नाव में बैठना अच्छा जानता है जब तक कि नदी को पार न किया हो। इससे स्पष्टतया यह परिणाम निकलता है कि जो मनुष्य मृत्यु से भयभीत हैं वे खुले शब्दों में अपनी असफलता मानते हैं।

मृत्यु से अभय और सभय कौन-कौन हैं ?

जो सफलता प्राप्त कर चुके हैं उनको तनिक भी भय मृत्यु का नहीं होता दूसरे, वह मनुष्य जिनको इस गाड़ी के छूट जाने पर दूसरी इससे उत्तम मिलने की आशा होती है वह कभी इस गाड़ी को छूटने पर शोच नहीं करते परन्तु जिनको इस गाड़ी के छूटने पर बुरी गाड़ी मिलने का भय होता है वह मृत्यु से डरते हैं। इसका आशय यह है कि जिन मनुष्यों ने जीवात्मा और परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके अपने को मुक्ति का अधिकारी बना लिया है, वह मृत्यु से तनिक भी भय नहीं खाते तथा जो मनुष्य कि दिन रात धर्म कार्य करके अपनी उन्नति को बढ़ा रहे हैं उनको भी मृत्यु का भय नहीं होता परन्तु जिन मनुष्यों ने कि अपने जीवन को पापों की नदी में डाल कर बिगाड़ दिया है उन्हें मृत्यु का भय लगा रहता है। दूसरी बात यह है कि एक मनुष्य किसी सराय में किराये पर

रहता है और दूसरा उसी सराय का स्वामी रहता है; अब यदि दोनों को गवर्नमेंट की ओर से यह आज्ञा दी जाय कि तुम इस स्थान को दो घण्टे में छोड़ दो तो कष्ट किसको होगा ? स्वामी को न कि किरायेदार को। क्योंकि किरायेदार तो जानता है कि मेरा इस सराय में क्या है मुझे तो किराया देना है, यह सराय न सही दूसरी सही। परन्तु जिसने इस स्थान को अपना समझा हुआ है उसे कष्ट अवश्य होगा क्योंकि वह यह समझ रहा है कि मैंने वर्षों परिश्रम करके इस घर को बनाया है, ऐसा घर मिलना अति दुर्लभ है अतः उसको छोड़ने में कष्ट होना आवश्यक है। तीसरे दो मनुष्य सराय में ठहरे हुए हैं एक के पास तो बहुत सा सामान है परन्तु एक के पास केवल एक लंगोटी। अब यदि दोनों को आज्ञा मिले कि तुम तुरन्त इस सराय को छोड़ दो तो दुःख किसको होगा ? उसको जिसने कि बहुत सा सामान एकत्रित किया है दुःख होगा और जिसने कुछ भी नहीं रखा उसे कुछ भी दुःख न होगा क्योंकि सामान वाले को उठाने के लिये बहुत सी वस्तुओं की आवश्यकता होगी। इन सब बातों से पता चलता है कि मृत्यु से निम्नलिखित मनुष्य तो डरते हैं:—

(१) वह मनुष्य जिसने अपना समस्त जीवन, उद्देश्य की प्राप्ति के बदले धन एकत्रित करने में गंवा दिया है।

(२) वह मनुष्य जिसने विषयों के भोग के लिये सहस्रों प्रकार के पापों से अपने आपको ऐसा बना लिया है कि उसको मरकर इससे उत्तम देह मिलने की आशा ही नहीं।

(३) वह मनुष्य जो इस शरीर की प्रकृति को विकार एवम् रहने के लिये चन्द रोजा सराय न समझता हो और जिसे यह पता न हो कि इस शरीर का किराया नित्य प्रति देना पड़ता है, जिसे यदि कुछ न दो तो इस सराय में रहना कठिन हो जाता है, किन्तु शरीर को अपना मानने लगता है, अपने को देह ही समझता है तथा—

(४) वह मनुष्य जिसने संसारी पदार्थ अगणित एकत्र किये हों, क्योंकि मृत्यु के समय उन्हें साथ लेजा नहीं सकता और छोड़ने में कष्ट होता है।

निम्नलिखित मनुष्य मृत्यु से तनिक भी नहीं डरते:—

[१] वह ज्ञानी महात्मा जिसने वेदों की नियमानुकूल शिक्षा से जीवात्मा का, परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके अपने को मुक्ति का अधिकारी बना लिया।

[२] वह मनुष्य जो दिन-रात धर्म और परोपकार के कर्मों में लगा हो।

[३] वह मनुष्य जो शरीर को प्रकृति विकार समझ कर उद्देश्य पर पहुंचने के लिये किराये की गाड़ी समझता हो।

[४] वह मनुष्य जो वैराग्य को हृदय में धारण करके एक लंगोटी के सिवाय दूसरी वस्तु न रखता हो।

इसका प्रमाण हमें संसार के बहुत से उदाहरणों में मिल सकता है। जिन मनुष्यों ने स्वामी दयानन्द की मृत्यु को देखा है वह भली प्रकार जान सकते हैं कि ईश्वर-भक्त मृत्यु से तनिक भी नहीं डरते। उन्हें मृत्यु भयंकर के बदले कल्याणकारी जान पड़ती है। अब दूसरी ओर ईसा की मृत्यु को देखिये कि मरते समय कहता है कि:—

"हे मेरे ईश्वर ! तैने मुझे क्यों छोड़ दिया," मानो वह अपने शब्दों से यह बताता था कि वह मृत्यु को नहीं चाहता, जिसका स्पष्ट अर्थ यह था कि उसने उद्देश्य का ध्यान भी नहीं किया था। वह सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहा था परन्तु उसे पता भी न था कि सत्य कहां से प्राप्त हो सकता है, क्योंकि बौद्धों का शिष्य था अतः वेदों के अनभिज्ञ होने के कारण उत्तम मनुष्य होते हुये भी मनुष्य-जीवन के उद्देश्य को न जान सका। इसी प्रकार बहुत से मनुष्यों की मृत्यु को देखने से उनकी आन्तरिक अवस्था

का भेद खुल जाता है। महर्षि की मृत्यु ने गुरुदत्त जैसे योग्य मनुष्य को जो कि साइन्स आदि की निर्बल शिक्षा के कारण कुछ थोड़े से नास्तिक थे इस प्रकार का आस्तिक बनाया कि उन पर मृत्यु का भय कभी प्रभाव न डाल सका। समस्त संसारी इच्छाओं से पृथक् रह कर गृहस्थ में ही योग के लिये प्रयत्न करते-करते, इस संसार को त्याग दिया। पण्डित लेखराम की मृत्यु तो आपके सम्मुख ही हुई है उसका वृत्तान्त किसी समाचार पत्र के पढ़ने से छिपा नहीं है। क्या कारण कि पण्डित लेखराम को मृत्यु का तनिक भी भय नहीं था और वह किसी संसारी शक्ति के भय से अपने उद्देश्य से नहीं टरता था? ईश्वर का सत्य विश्वास ही इसका कारण हो सकता है। इस सम्बन्ध में बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि जो मनुष्य ईश्वर-भक्ति को अपने जीवन का उद्देश्य समझकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं उन्हें कभी भी मृत्यु का भय नहीं होता और वह शरीर को त्याग देना वस्त्रों के बदलने से अधिक नहीं समझते।

आर्य्य पुरुषो! यदि चाहते हो कि मृत्यु से निर्भय हो जाओ, संसार की कोई बुराई तुम्हारी आत्मा पर अधिकार न जमा सके और संसार में कोई शक्ति-शाली तुम्हें न दबा सके तो सीधे सब झंझटों को छोड़ कर परमात्मा की आज्ञा के अनुकूल वेदोक्त कर्म उपासना और ज्ञान के द्वारा मल, विक्षेप और आवरण इन तीनों दोषों को दूर करके आत्मा के स्वरूप को जानो और उससे आत्मबल प्राप्त कर, निर्भय हो हँस-हँसकर मृत्यु का स्वागत करो।

——

आत्मिक बल

जीवात्मा कैसा है ?

प्रिय पाठकगण ! आजकल हमारे अधिक भाई कार्य का आरम्भ करके मध्य में ही छोड़ देते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उनमें उस काम के करने की शक्ति न थी, आप कहेंगे कि जब कि वह शिक्षित, चिन्ता-रहित और बलवान् हैं तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि उन में उस कार्य के करने की शक्ति न थी ? हमने जहां तक परीक्षा की है, उससे विश्वास हो गया है कि प्रत्येक कार्य का होना आत्मिक बल के आधीन है। यद्यपि शारीरिक बल और धन का बल भी सांसारिक कार्यों के करने के लिये एक आवश्यक पदार्थ है परन्तु आत्मिक बल के होने पर ये सब वस्तुयें स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं और इनके होने पर आत्मिक बल का होना निश्चित नहीं और नाहीं इनसे आत्मिक बल उत्पन्न हो सकता है। अब प्रश्न यह होता है कि आत्मिक बल क्या पदार्थ है जिसके होने से समस्त कार्य पूर्ण रूप से हो सकते हैं और जिसके न होने से बहुधा धनों की विद्यमानता में भी कार्य नहीं हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान और प्रयत्न वाली शक्ति को आत्मा कहते हैं और ज्ञान और प्रयत्न उसके गुण कहलाते हैं और गुणों के बढ़ने का नाम बल का बढ़ना कहलाता है इस लिये आत्मा में ज्ञान और प्रयत्न की निर्बलता आत्मिक निर्बलता है और ज्ञान व प्रयत्न का बढ़ना ही आत्मिक बल है, हमारे बहुत से मित्र कह देंगे कि "न्यायशास्त्र" में जीवात्मा के ये लक्षण लिखे हैं--सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न और ज्ञान तुमने पहले चार क्यों छोड़ दिये, और और अन्त के दो क्यों रख लिए ? इसका उत्तर यह है कि पहिले चार तो शरीरस्थ आत्मा

के गुण हैं, उदाहरण—कोई मनुष्य हाथ से लकड़ी कुल्हाड़ी की शक्ति से काटता है अब लकड़ी काटना कुल्हाड़ी से मिले हुए हाथ का है केवल हाथ का नहीं क्योंकि न तो विना कुल्हाड़ी के हाथ काट सकता है और न ही विना हाथ की सहायता के कुल्हाड़ी काट सकती है जब कि दोनों में से पृथक्-पृथक् कोई भी काटने की शक्ति नहीं रखता और मिलकर बराबर काट सकते है तो वह मिले हुओं का धर्म है, एक का नहीं। इसी प्रकार सुख-दुःख, इच्छा और द्वेष सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा को प्रतीत होते हैं न एकाकी (अकेले) आत्मा को प्रतीत होते हैं और न अकेले शरीर को। यदि अकेले आत्मा के गुण मान लिये जावें तो सुषुप्ति की दशा में भी इनका अनुभव होना चाहिये परन्तु सुषुप्ति की दशा में किसी को भी सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष विदित नहीं होते इससे निश्चय होता है कि यह आत्मा के धर्म नहीं। यदि अकेले शरीर के मानलें तो मृतक में भी यह गुण नहीं जिससे प्रकट होता है कि ये गुण आत्मा और शरीर के मेल से उत्पन्न होते हैं।

अन्तर्ज्ञान और बाह्य ज्ञान का भेद

प्रिय पाठक महाशयो ! हमारे अनेक मित्र कहेंगे कि सुषुप्तिकाल में आत्मा को ज्ञान नहीं रहता इसी कारण उस समय सुख-दुःख आदि विदित नहीं होते नहीं तो आत्मा में यह गुण सदैव रहते हैं। परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं क्यों कि आत्मा किसी काल में भी ज्ञान प्रयत्न से रिक्त नहीं हो सकता और किसी द्रव्य के गुण उसकी विद्यमानता में उसे छोड़ कर जा ही नहीं सकते फिर किस प्रकार माना जा सकता है कि चेतन आत्मा के गुण, ज्ञान और प्रयत्न पृथक् हो जावें जब कि वह विद्यमान हो। और प्रत्येक द्रव्य गुणों का समूह है तो द्रव्य के होने के लिये गुणों का होना आवश्यक है। परन्तु अधिकांश मित्र यह कहेंगे कि क्या कारण है, कि सुषुप्ति की दशा का

ज्ञान प्रतीत नहीं होता इसका उत्तर यह है, कि ज्ञान दो प्रकार का है एक स्वाभाविक दूसरा नैमित्तिक, स्वाभाविक ज्ञान तो वह है कि जो विना किसी इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध के बना रहता है जैसे अपने होने का ज्ञान, दूसरा ज्ञान पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, जैसे—रूपज्ञान के लिये रूपवाली वस्तु और रूप के ग्रहण करने वाली इन्द्रिय अर्थात् चक्षु और रूप के प्रकाश करने की शक्ति जैसे सूर्य, दीपक इत्यादि का होना आवश्यक है। आत्मा ज्ञानी होने पर भी विना इन तीन पदार्थों के रूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और शब्द ज्ञान के लिये कान, आकाश और शब्द का होना आवश्यक है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों का ज्ञान विना साधनों के हो नहीं सकता परन्तु अपने ज्ञान अथवा आन्तरिक पदार्थों के जानने के लिये किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं।

प्यारे पाठको ! ऊपर के दृष्टान्तों से आपने समझ लिया होगा कि जिन पदार्थों के लिये साधनों की आवश्यकता है वे बाह्य पदार्थ हैं और जिनका ज्ञान विना साधनों के होता है वह उसका अपना गुण है।

निद्रावस्था क्या है ?

अब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष का होना विना मन की वृत्ति-संयोग के हो नहीं सकता, जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो इच्छा उत्पन्न होती है।

जब उसको बुरा समझते हैं तो उसमें द्वेष हो जाता है और जिस पदार्थ का संयोग आत्मा के अनुकूल प्रतीत होता है उसे सुख मानते हैं और जब आत्मा के प्रतिकूल होता है, उसे दुःख कहते हैं, इसलिये यह गुण मन के कारण से उत्पन्न होते हैं और सुषुप्ति काल में जब कि इन्द्रिय मन और बुद्धि अपना-अपना काम छोड़ देते हैं तब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष सर्वथा नहीं रहते, केवल ज्ञान और प्रयत्न जो

आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं वे शेष रह जाते हैं, अब यह शङ्का होगी कि सुषुप्ति समय में आत्मा को किस वस्तु का ज्ञान रहता है और वह किसके लिये प्रयत्न करता है, इसका उत्तर यह है कि सुषुप्ति काल में आत्मा को अपने होने का ज्ञान होता है और वह शरीर की उस न्यूनता को जो जागृत अवस्था के दुःखों से उत्पन्न हो गई है पूरा करने के लिये प्रयत्न करता है।

अब यह शङ्का हो सकती है कि जब महात्मा गोतम ऋषि ने अपने दर्शन में जीवात्मा के छः गुण माने हैं और महर्षि कणाद ने इससे भी अधिक तो तुम्हारा कहना किसी प्रकार सत्य नहीं हो सकता, इसका समाधान यह है कि विचारपूर्वक महात्मा गोतम का दूसरा सूत्र तो पढ़ो जिसमें महात्मा गोतम ने इन गुणों को मिथ्या-ज्ञान की सन्तान में बतलाया है। इसलिये ये चार जीवात्मा के गुण नहीं हो सकते। प्रिय पाठको! महात्मा कणाद जी ने अपने वैशेषिक शास्त्र में आत्म संयोग से ही कर्म माना है और विना आत्मा के कर्म हो ही नहीं सकता जैसा कि लिखा है—

आत्म संयोग प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म।

वैशेषिक ५।१।१

जब आत्मा का हाथ के साथ सम्बन्ध होता है तब ही हाथ में कर्म अर्थात् कार्य करने की शक्ति होती है विना आत्मा के संयोग के नहीं होती।

तथा हस्त संयोगाच्च मुसले कर्म॥

वैशेषिक ४।१।१

और जब आत्मा से युक्त हाथ मूसल से सम्बन्ध उत्पन्न करता है तो मूसल में कार्य करने की शक्ति आ जाती है। यहाँ हाथ से सारे शरीर के अङ्ग प्रयोजन हैं और मूसल से सर्व प्रकार के बाहरी शस्त्र

अर्थात् साधन जिनसे मनुष्य कार्य लेते हैं इसी प्रकार अन्य भी समझना चाहिये ।।

मित्रवर्गो ! जब यह निश्चय हो गया कि आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न दो गुण हैं और इन दोनों का नाम आत्मिक बल और घटने का नाम आत्मिक बल की हानि है ।

तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इनके बढ़ने और घटने का कारण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि संसार में हमें एक नियम विदित होता है कि जहाँ जिसके सदृश पदार्थ मिलते हैं वहां उसकी उन्नति होती है जहाँ विरुद्ध मिलते हैं वहाँ हानि, जैसे वर्षा ऋतु में जबकि चारों ओर पानी बरस रहा हो और ठण्डी पवन के झोंके वेग से चल रहे हों उस समय यदि आप एक दियासलाई को गीली जलायेंगे तो कठिनता से जलेगी परन्तु उसको ग्रीष्म ऋतु में जबकि लू अर्थात् गर्म वायु वह रही हो जलाना चाहो तो बड़ी आसानी से जल जायगी, दूसरे यदि रोगी को जिसको गर्मी के कारण ज्वर आता है गर्म औषधि देते चले जावें तो गर्मी के बढ़ने से रोग बढ़ता जायगा यदि ठण्डी औषधियाँ दी जावें तो रोग निवृत्त हो जायगा इससे प्रकट है कि सदृश पदार्थों के संयोग से उन्नति और विरुद्ध के संयोग से हानि होती है ।

उन्नति और अवनति की दो दिशायें

अब जानना चाहिये कि कौन-कौन से पदार्थ हैं जो आत्मा को मिलते हैं, उनमें से कौन-कौन अनुकूल और कौन प्रतिकूल हैं ? इसका विचार करने से जहाँ तक ज्ञात होता है वे दो ही पदार्थ हैं एक प्रकृति दूसरा परमेश्वर जिनसे आत्मा का सम्बन्ध उत्पन्न होता है, जीव चेतन और शरीर के सम्बन्ध से गति वाला, प्रकृति परिवर्तन वाली और ज्ञान शून्य है, परमेश्वर ज्ञान स्वरूप और स्वाभाविक क्रियावान् और आनन्द स्वरूप हैं। प्रिय पाठक ! जब कि प्रकृति

ज्ञान शून्य और क्रियारहित और जीव ज्ञान सहित और क्रियावान् है तो जो प्रकृति से अपना सम्बन्ध करेंगे तो उस से ज्ञान और क्रिया की उन्नति तो होती नहीं, हाँ प्रकृति के गुण उसमें प्रतीत होने लगेंगे। यद्यपि प्रकृति में जीव के सम्बन्ध से क्रिया उत्पन्न हो जायगी तथापि कुछ अंश ज्ञान का भी संयोग से प्रतीत होगा, परन्तु जीव के यह दोनों गुण न्यून होते चले जायेंगे। जीव के सम्बन्ध से जितनी प्राकृतिक शक्तियाँ हैं उनकी ज्ञान और क्रिया की शक्ति अधिक होती जायगी, जैसे जितने समय तक दीपशलाका धूप में पड़ी रहेगी उतनी ही तीव्र होती चली जायगी।

भ्रातृवर्ग! अब यह तो सिद्ध हो गया कि आत्मा का बल ईश्वरोपासना है॥

अनेक पाठक कहेंगे कि यह केवल कथन मात्र ही है परन्तु यदि वे विचारपूर्वक लौकिक इतिहासों को अवलोकन करें तो उन पर विदित हो जायेगा कि आत्मिक बल ईश्वर भक्तों का ही भाग है।

आत्मबल के प्रत्यक्ष असंख्य उदाहरण

अर्थात् अनुसन्धान तो कीजिये कि क्या कारण था कि राजा हरिश्चन्द्र इतनी आपत्तियों के उपस्थित होने पर भी अपने सत्य पर दृढ़ स्थिर रहा। क्या कारण था कि महात्मा रामचन्द्र जी ने पिता की आज्ञा पाते ही राज्य को तुच्छ समझ कर त्याग दिया और वन को चले गए, क्या कारण था कि लक्ष्मण जी ने सब प्रकार के सुखों का परित्याग कर भाई के साथ वन को जाना स्वीकार किया? क्या कारण था कि सीता जी ऐसी सुकुमार रानी ने वनों में भ्रमण करना स्वीकार किया और राज्यादि के आनन्दों की कुछ भी इच्छा न की, क्या कारण था कि राजा मोरध्वज का शरीर चीरा गया तो भी आनन्द पूर्वक चीरे जाने से प्रसन्न चित्त रहा, क्या कारण था कि महात्मा भर्तृहरि जी ने अपने सारे राज्य को तुच्छ जान जङ्गल जाना स्वीकार किया? क्या कारण था कि गुरु तेग बहादुर यवनों

के हाथ से मृत्यु को प्राप्त होने से भयभीत न हुए ? क्या कारण था कि गुरु गोविन्दसिंह के दोनों लड़के दीवार में चुने जाने पर मृत्यु से न डरे, क्या कारण था कि महात्मा पूर्ण भक्त ने सहस्रों आपत्तियों को सहन किया परन्तु उसका आत्मा पाप की ओर आकर्षित न हुआ, क्या कारण था कि महात्मा हकीकतराय ने १६ वर्ष की अवस्था में यवनों के हाथ से मरना स्वीकार किया परन्तु धर्म को न त्यागा ? क्या कारण था कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने सारे भारतवर्ष का शत्रु बनना, ईंट पत्थर खाना उत्तम समझा परन्तु अधर्म का मूलोच्छेद किया और धर्म्म के विरुद्ध चलना महापाप समझा ? आप विचारोगे तो प्रत्यक्ष ज्ञात होगा कि यह आत्मिक बल का ही कारण था कि जिसने इन महात्माओं को संसार के सम्मुख विजयी किया।

प्रिय पाठकवृन्द ! क्या आपने कभी विचार नहीं किया कि वह कौन से कारण हैं जिन्होंने रानी पद्मिनी को प्रचण्ड अग्नि में भस्म होकर मरना स्वीकार कराया, परन्तु यवन बादशाह की बेगम बनना अस्वीकार किया ? क्या कारण था कि जिस ने राजा दाहर की रानी को चिता में जलकर मरने पर कटिबद्ध किया, वह कौन-सी शक्ति थी कि जिसने कृष्णकुमारी को जलती हुई चिता पर बिठा दिया ? कहाँ तक गिनायें इस भारतभूमि में असंख्यात दृष्टान्त हैं जिनके नाम सूर्य के समान संसार में प्रकाशित हैं। आप इसका उत्तर यही देंगे कि इनमें धर्म का भाव था जिसने इन सुकुमार सतियों को प्रसन्नतापूर्वक इन आपत्तियों के सहने के लिये सन्नद्ध कर दिया।

बल का स्रोत

यह धर्म क्या वस्तु है ? केवल ईश्वरोपासना ! बस आप समझ गये होंगे तो संसार में धर्म और अधर्म या पाप और पुण्य जो दो शब्द हैं इनका आशय केवल ईश्वरोपासना और प्रकृति की उपासना

है। ईश्वर उपासना धर्म है, जिससे आत्मिक बल मिलता और जीव ऐसे उन्नति के कार्य करता है जिससे संसार में सुखों की प्राप्ति होती हैं दूसरे ईश्वरोपासना से ईश्वरीय शक्ति अर्थात् वैदिक ज्ञान की प्राप्ति होकर जीव की ज्ञान शक्ति बढ़ जाती है, संसार में जितने योगी हुये हैं जिन्होंने अपने आत्मा को प्रकृति से अलग करके ज्ञान की ओर लगाया है वे संसार में ज्ञानी और विद्वान् कहलाये और अद्य पर्य्यन्त उनका नाम कार्य्य संसार में विख्यात है परन्तु जितने प्रकृति के उपासक हुए जिन्होंने आत्मिक हानि को प्राप्त किया वे दास होकर चले गये, उन्हें जीवन में मूर्खता और दुःख के आक्रमण सहने पड़े, मरने के पश्चात् भी कष्ट के अतिरिक्त कुछ न मिला और आज कोई जानता भी नहीं।

राजधानी और राज्य के कुप्रबन्ध के दृश्य : धोखा न खाने वाला बलिष्ठ आत्मा।

प्रियवरो ! आत्मा एक राजा है जिसकी राजधानी यह शरीर है। इन्द्रिय, बुद्धि, मन इत्यादि इसके कर्मचारी हैं यदि यह राजा बलवान् होता है तो अपने कर्मचारियों पर शासन करता है और अपनी इच्छानुसार उनसे काम लेता है उस समय उसके कर्मचारी उसके दास होकर उसको प्रत्येक प्रकार का सुख देते हैं, परन्तु जिस समय निर्बल हो जाता है उस समय कर्मचारी उसको दबा लेते हैं और वह प्रत्येक से विनय करता है और वह उनके लिये भोजन का यत्न करता है यद्यपि यह कार्य इन कर्मचारियों का था कि अपना भोजन प्राप्त करते अर्थात् अपने विषयों को भोगते हुये भोजन अर्थात् बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते परन्तु आत्मा को निर्बल देखकर ऐसे आलसी और अहंकारी हो जाते हैं कि राजा को स्वयम् इनके भोजन का सन्देह लगा रहता है उसकी सारी स्वतन्त्रता और प्रधानता बिक जाती है, वह अपने आप को राजा के स्थान में दास अनुभव करने लगता है। अब उसका कार्य यह होता है कि

साईस की भांति घोड़ों के पालन-पोषण में लगा रहे, उसे अपने उस मार्ग का ध्यान तक नहीं रहता कि जहां जाना है और वह जिन कार्यों को प्रबलता की दशा में तुच्छ समझता था निर्बलता की दशा में उसको एक आवश्यकीय कार्य समझ लेता है और पदार्थों का ज्ञान उसे प्रबलता की दशा में सुगमता से हो सकता था अब वह उसके विचार में अधिक गुरुतर दृष्टि आते हैं।

भ्रातृवर्गो ! यह तो आप जानते हैं कि जिस राजा की प्रजा अयोग्य है वह सदैव असफल रहती है। इसी प्रकार जिस जाति का मुखिया अयोग्य है उसकी भी यही दशा होती है राजा का कार्य राजा से होता है दास से नहीं; इसी प्रकार प्रबल आत्मा के कार्य निर्बल आत्मा से हो नहीं सकते और संसार में भी देखा जाता है कि जिस मनुष्य की इन्द्रिय उसके वश में नहीं उसका कुटुम्ब उसके वश में नहीं रहता और जो अपने कुटुम्ब पर शासन न कर सके वह अपने मुहल्ले पर शासन नहीं कर सकता और जो अपने मुहल्ले पर शासन नहीं कर सकता वह अपने ग्राम पर शासन नहीं कर सकता और जो ग्राम पर शासन नहीं कर सका वह प्रान्त पर शासन नहीं कर सकता और जो प्रान्त के योग्य नहीं वह देश पर क्यों कर शासन कर सकता है और जो एक देश पर भी शासन नहीं कर सकता है वह संसार पर किस प्रकार हकूमत कर सकता है ? इससे पता चलता है कि संसार में सबसे बड़ी सफलता के सोपान आत्मा के इन्द्रिय और मन पर शासन के लिये आत्मा को अत्यन्त भारी शक्ति की आवश्यकता है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ संसार के सहस्रों पदार्थों को मन के द्वारा अपने सम्मुख करके आत्मा को धोखा देना चाहती हैं। परन्तु प्रबल आत्मा जिसका ज्ञान-गुण परमात्मा की प्रबल शक्ति से सहायता पाकर उन्नति कर चुका है जिसका प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ ज्ञान है वह इन इन्द्रिय और मन के वशीभूत नहीं हो सकता जो इन्द्रिय और मन को वश करने योग्य बल आत्मा में रखता है वही कृतकार्य हो सकता है।

मानवता के प्रेरणा-स्रोत

महर्षि दयानन्द :—

लेखक ने ऋषि की जीवन की प्रमुख-प्रमुख सभी घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन लिखकर बालोपयोगी संस्करण तैयार किया है। मूल्य पचहत्तर पैसे। डाक-व्यय पृथक्।

क्रांति के प्रवर्त्तक स्वामी विरजानन्द :—

स्वर्गीय स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती द्वारा लिखित जीवनी अत्यन्त खोजपूर्ण है। इस पुस्तक में लेखक ने स्वामी विरजानन्द जी की सम्पूर्ण जीवनी अत्यन्त सरल एवं रोचक भाषा में लिखी है। मूल्य दो रुपये पच्चीस पैसे। डाक-व्यय पृथक्।

अमर सेनानी स्वामी श्रद्धानन्द :—

लेखक ने अपनी रोचक भाषा में स्वामी जी की जीवनी अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रतिपादित की है। मूल्य दो रुपये। डाक व्यय पृथक्।

लालबहादुर शास्त्री जीवन कथा :—

स्वर्गीय श्री शास्त्री जी का जीवन इतना सरल, उद्बोधक, आकर्षक और मर्मस्पर्शी है कि जितना प्रचार हो, कम है। अतः ऐसे त्यागी व्यक्ति की जीवनी पढ़कर अपने जीवन को भी आदर्श बनायें। मूल्य दो रुपये। डाक-व्यय पृथक्।

अमर क्रान्तिकारी :—

सत्यता से परिपूर्ण, अपनी नवीनता से युक्त एवं उत्साह से ओत-प्रोत १४ क्रान्तिकारियों की जीवनियों का अपूर्व संग्रह। मूल्य दो रुपये, डाक-व्यय पृथक्।

अन्य सभी प्रकार की जीवनोपयोगी पुस्तकें वी० पी० पी० द्वारा मंगाने का एक मात्र प्रमुख पुस्तक-भण्डार :—

मधुर-प्रकाशन

आर्यसमाज मन्दिर, बाजार सीताराम, दिल्ली-६